खड़ी बोली के गौरव-ग्रंथ

विश्वम्भर 'मानव'

किताब महल इलाहाबाद

अपनी छोटी बहिन
श्रीदेवी
को

प्रवेश

मेरे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंश अध्यापन में व्यतीत हुआ है। क्वींस कॉलेज काशी, आगरा कॉलेज आगरा और गोकुलदास गर्ल्स कॉलेज मुरादाबाद में अपने विद्यार्थियों के बीच व्याख्यान देते हुए उन दिनों की कल्पना मैं जब भी करता हूँ, तभी एक सुखद अनुभूति से मेरा हृदय बार-बार भर उठता है। ज्ञान के उज्ज्वल कानन में खड़े गुरु-द्रुमों के विकसित सुमनों से रस-पराग एकत्र कर, वे निर्द्वन्द्व पक्षी उड़कर संसार के किन कोनों को अब रसमय और सुरभित कर रहे हैं, मुझे नहीं मालूम—वे जहाँ भी हों उन सबको मेरी मंगल-कामना वहीं पहुँचे—पर मुझे उनसे ऐसी आत्मीयता प्राप्त हुई, जिसे मैं कभी भी विस्मरण नहीं कर सकता। मेरी स्मृति में उन्हें सजीव रखने वाला यह समीक्षा-ग्रंथ जो है। इसमें संग्रहीत आधे से अधिक लेख सन् १९३८ से लेकर १९४३ तक कॉलेज कक्षाओं में दिए गए वे लेक्चर ही हैं जो मेरे और मेरे विद्यार्थियों के बीच स्थायी मानसिक सम्बन्ध के प्रतीक बन गए हैं।

इस प्रकार आलोचना के क्षेत्र में मेरा प्रवेश अनायास ही हो गया।

इसकी माँग से मैं इस परिणाम पर अवश्य पहुँचा हूँ कि देश भर की शिक्षा-संस्थाओं में उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई है; कारण यह है कि आधुनिक साहित्य की ये अमर कृतियाँ ही घुमाफिराकर सभी कहीं पाठ्य-क्रम में नियत हैं। पिछले वर्षों में यह ग्रंथ आगरा विश्वविद्यालय की बी० ए०, हिंदी साहित्य-सम्मेलन की 'साहित्यरत्न', प्रयाग महिला विद्यापीठ की 'सरस्वती' तथा दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की 'राष्ट्रभाषा प्रवीण' परीक्षा में विशेष अध्ययन के लिए स्वीकृत रहा है। इसके अतरिक्त और भी कहीं इसे मान्यता मिली हो, तो मुझे पता नहीं।

इस संस्करण में इसके कुछ अंश को हटाकर कुरुक्षेत्र, शेखर : एक जीवनी, चित्रलेखा और संन्यासी पर चार नए समीक्षात्मक निबंध जोड़ दिए गए हैं। पढ़ते ही यह बात स्पष्ट हो जायगी कि शैली की एकरूपता के होते हुए भी, इन ग्रंथों की समीक्षा का आधार कुछ भिन्न ही प्रकार का है।

मेरी बात पूछें, तो आलोचना मेरा स्वभाव नहीं है। उसमें मेरे प्राण नहीं बसते। वर्षों से मेरा मन काव्य की रम्य भूमि में विचरण करने को भटकता रहा है; पर पता नहीं क्या बात है कि जब भी कविता लिखने बैठता हूँ, आलोचना हाथ से निकलती है।

—विश्वम्भर 'मानव'

●●●

क्रम

कामायनी

कामायनी मानव संस्कृति और शाश्वत मानवीय मनोविकारों का महाकाव्य-रूपक (Allegory Epic) है। इसमें 'प्रसाद' के काव्य की समस्त विशेषताओं का सन्निवेश उनके उत्कृष्टतम रूप मे हुआ है। इसकी प्रशंसा में इतना ही कहा जा सकता है कि विश्व-साहित्य की श्रेष्ठतम रचनाओं की पंक्ति मे जगमगाने के लिए हिंदी ने एक अमूल्य काव्य-रत्न, जिसका अक्षय-आलोक कभी मंद न होगा, प्रसव किया है।

जैसा 'प्रसाद' ने आमुख मे स्वीकार किया है, कामायनी की कथा का आधार मुख्यतः शतपथ ब्राह्मण और साथ ही ऋग्वेद, छांदोग्य उपनिषद तथा श्रीमद्भागवत हैं। वैवस्वत मनु को कवि ने ऐतिहासिक पुरुष ही माना है। उसका विश्वास है—

"मनु भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं। राम, कृष्ण और बुद्ध इन्हीं के वंशज हैं।"

एक बात, जिसकी ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है, 'प्रसाद' ने और भी कही है—

"यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्‌भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

इस घोषणा से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि को इतिहास की अधिक चिंता है, रूपक की नहीं। सम्पूर्ण आमुख में इसी ऐतिहासिक सत्य को पाने के लिए कवि आकुल है। पर कामायनी के अध्ययन से पता चलता है कि स्थूल कथा के ढॉचे के साथ रूपक की कल्पना भी कवि ने कर ली थी। ग्रन्थ में रूपक के प्रति उपेक्षा किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती, उसके प्रति

आग्रह ही प्रकट होता है। कामायनी में अनायास कुछ भी नहीं, बहुत सँभल-सँभल कर कवि ने उसकी रचना की है।

—मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—

कामायनी में मनु, श्रद्धा (कामायनी) और इड़ा, मन श्रद्धा और बुद्धि के प्रतीक हैं। कामायनी इस दृष्टि से अन्तःकरण में वृत्तियों के विकास की गाथा भी कहती है। मनु का मन है जो अतुल वैभव के विनाश पर 'चिंता' मग्न हो जाता है। चिंताकाल समाप्त होते ही उस मन में 'आशा' का उदय होता है। इस आशा को लेकर मन जी रहा है कि एक नारी के मन से जिसका निर्माण केवल समर्पण (श्रद्धा) से हुआ है उस मन का संयोग होता है। इन दो हृदयों के निकटता में आते ही पुरुष के मन में 'काम' जगता है। पुरुष का मन और अधिक नैकट्य के लिये व्यग्र होता है। तुरन्त 'वासना' आ धमकती है। नारी के मन को इस बात का पता चलता है तो आत्म-समर्पण से पहिले उसमें 'लज्जा' का संचार होता है। पुरुष का मन 'कर्म' के दो पथों की ओर अग्रसर होता है (१) कर्म-कांड की दिशा में, जिसे कवि ने यज्ञ द्वारा पूरा कराया है और (२) भोग-कर्म की ओर जिसे गार्हस्थ्य धर्म के भीतर लेकर कर्म में सम्मिलित किया है। मन जिसे अनुराग की दृष्टि से देखता है उसे ऐसा जकड़ कर रखना चाहता है कि किसी दूसरे की दृष्टि भी उस पर न पड़े। मनु श्रद्धा के प्रेम में से वात्सल्य का अंश भी पृथक् होते देखना नहीं चाहते। इस पर आज हम घोर स्वार्थ कहकर संभव है अस्वाभाविकता का आरोप करें, क्योंकि पिता की अनुभूति से सम्पन्न होने के कारण हम जानते हैं कि ऐसा कभी नहीं होता पर मनु ने पुत्र का मुख नहीं देखा है, अतः वात्सल्य का न उमड़ना और उसके वेग के मूल्य को न जानना उसके लिए अस्वाभाविक नहीं है।

यही अतृप्त मन एक और युवती (इड़ा) के मन के सम्पर्क में आता है। इस काव्य में श्रद्धा पत्नी है, इड़ा प्रेमिका। पत्नी और प्रेमिका में अन्तर यह होता है कि पत्नी पूर्ण आत्म-समर्पण कर देती है, प्रेमिका अपने अस्तित्व को बनाए रखती है। श्रद्धा ने अपने को देकर अपना सब कुछ खो दिया,

इड़ा ने अपने को न देकर आकर्षण को जीवित रखा और मनु को उँगली पर नचाया। उसने जितना काम उससे लिया, उसका वर्णन श्रद्धा के 'स्वप्न' में मिलता है। पुरुष का मन जब ऐसी नारी के मन पर जिसमें बुद्धि की प्रमुखता है, अधिकार नहीं जमा पाता तब 'संघर्ष' होना स्वाभाविक है और इसके उपरान्त विरक्ति (निर्वेद) भी।

ठेस खाकर यह अपमानित मन फिर श्रद्धा की ओर झुकता है। इस बार श्रद्धा उसे सांसारिक सुख की ओर न ले जाकर पारलौकिक सुख की ओर ले जाती है। उसे लोकोत्तर रूप के 'दर्शन' करांती है और इस 'रहस्य' से परिचित कराती है कि श्रद्धा बिना सब विश्रृङ्खलता-मात्र है। इस स्थिति में पहुँच कर 'आनन्द' की उपलब्धि क्यों न होती ?

इस प्रकार तीन प्राणियों की कहानी के साथ-साथ यह तीन मनों की कहानी है। और भी विचार करें तो केवल एक मन की कहानी है। यह एक मन सबका अपना-अपना मन है। यहीं से रूपक की भावना उठती है।

—कथा—

कामायनी के रूपक को स्पष्ट करने के लिए पहिले स्थूल कथा का संक्षेप में वर्णन करते हैं। प्रलय द्वारा विलासी देवों की सृष्टि के नष्ट होने पर सूर्योदय के साथ मुस्करा कर प्रकृति जीवन की 'आशा' को फिर मनु के हृदय में जागरित कर जाती है। मनु एकाकीपन के भार से विकल ही हैं कि 'श्रद्धा' के दर्शन होते हैं जो उनकी सहचरी बनती है। एक दिन मनु अन्तरिक्ष से 'काम' की यह वाणी सुनते हैं कि वह देवताओं की सृष्टि के विलीन होने पर यद्यपि अङ्गी से अनंगी हो गया है पर अतृप्त है। श्रद्धा के प्रति ज्योत्स्ना-धौत रजनी में मनु के हृदय में 'वासना' जगती है। श्रद्धा का मन भी ढीला होता है। ठीक उसी समय श्रद्धा के मन में 'लज्जा' उगती है। मनु यज्ञ 'कर्म' में लीन होते हैं और दम्पत्ति सोमरस का पान कर उत्तेजना के वशीभूत। कुछ दिन ढलने पर मातृत्व-भार से दबी, पर मातृत्व-भाव में मग्न श्रद्धा आगन्तुक जात के लिए एक मनहर कुटिया का निर्माण करती है और ऊनी वस्त्रों को बुन आगामी सुख-विधान की कल्पना करती है। मनु

श्रद्धा को छोड़ कर चले जाते हैं। यदि कहीं यह नाटक होता तो यहाँ चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या के ८ दृश्यों पर प्रथम अङ्क की बड़ी स्वाभाविक समाप्ति होती।

'इड़ा' सर्ग से कथा दूसरी ओर मुड़ती है। सारस्वत प्रदेश में 'इड़ा' से मिलन होता है। इड़ा को अपने ध्वस्त राज्य के पुनर्निर्माण के लिए एक कर्मशील व्यक्ति की आवश्यकता थी, मनु को अपनी अवरुद्ध बुद्धि के उपयोग के लिये नवीन कार्यक्षेत्र की—'दोऊ बानिक बने।' इधर श्रद्धा 'स्वप्न में वह सब कुछ देखती है जो मनु करते हैं और जगकर उन्हें लौटाने को चल पड़ती है। इड़ा दिन-दिन एक ओर मनु को मोहित करती और दूसरी ओर खिंचती जा रही है। मनु उस पर पूर्ण अधिकार जमाना चाहते हैं। इस अधिकार-चेष्टा से प्रजा अप्रसन्न होती है और एक खंड-प्रलय के समय आश्रय न पाने पर मनु की धृष्टता पर क्षुब्ध हो उसे ललकारती है। इस पर राजा (मनु) और प्रजा में 'संघर्ष' (युद्ध) प्रारम्भ होता है। श्रद्धा इस बीच आ पहुँचती है। वह घायल मनु को अपने कोमल करों से स्पर्श कर पीड़ा-हीन करती है। मनु श्रद्धा के आचरण पर चकित होकर उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इड़ा से उन्हें विरक्ति ('निर्वेद') उत्पन्न होती है, पर श्रद्धा से आँखें मिलाने का साहस भी उनमें नहीं है; अतः प्रभातकाल में कहीं खिसक जाते हैं। इस प्रकार इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद चार दृश्यों का दूसरा अंक समाप्त हुआ।

श्रद्धा अपने पुत्र कुमार को इड़ा को सौंप कर मनु की खोज में निकलती है। एक गुहा में वह उन्हें पाती है। मनु वहाँ अनंत में नृत्यरत नटेश (शिव) के 'दर्शन' करते हैं। श्रद्धा इसके उपरान्त उनका हाथ पकड़ कर उन्हें हिमवान के ऊपर चढ़ा ले जाती है और बहुत ऊँचे पहुँच कर अधर में स्थित इच्छा, क्रिया और ज्ञान लोकों का 'रहस्य' खोलती है। अंतिम सर्ग में इड़ा और कुमार प्रजा को लेकर 'मानस-तट' के निवासी श्रद्धा-मनु से मिलने आते हैं। चारों ओर 'आनंद' की वर्षा कर कवि अपनी कथा को समाप्त करता है। ये 'दर्शन' 'रहस्य' और 'आनन्द' के तीन दृश्यों का तीसरा और अंतिम अंक है। इस प्रकार तीन पात्रों का तीन अंकों का यह 'सुखांत' नाटक

अथवा पन्द्रह सर्गों का महाकाव्य समाप्त होता है।

—रूपक—

प्रत्येक प्राणी का मन न जाने कितनी चिंताओं का निवास-स्थान है। चिंता किसी न किसी प्रकार के अभाव से उत्पन्न होती है। प्रसाद ने चिंता को 'अभाव की चपल बालिका' ठीक ही कहा है। अभाव दो प्रकार के होते हैं : (१) शरीर संबंधी और (२) मन संबंधी। अभाव के साथ अशांति आती है। इस अशांति से मुक्ति पाने का मार्ग (आशा के रूप में) मन को दिखाई देता है। वह है श्रद्धा के साथ आंतरिक चिंतन (सुख-भोग)। श्रद्धा के साथ जैसे-जैसे मन रहता है या यों कहिए कि बाह्य संघर्ष को त्याग मन ज्यों-ज्यों श्रद्धा (आस्था) पूर्वक अंतर की गहराई में उतरता है, त्यों-त्यों सुख का अनुभव करता जाता है। काम, लज्जा, कर्म इस लीनता के चरण-चिह्न हैं। वृत्तियों को अंतर्मुखी करने की इच्छा का जगना 'काम', उसमें तीव्रता आना 'वासना', कभी-कभी उसमें व्याघात पड़ना 'लज्जा' और उत्कटता से उस पथ पर अग्रसर होना 'कर्म' (संभोग) है। कर्म में जो यज्ञ को सम्मिलित किया है, उसे हम मन को सात्विक बनाये रखने वाला एक साधन मानते हैं। आंतरिक चिंतन में सात्विकता बहुत बड़ी वस्तु है। इसके अंतर्मुखी होने पर मन में सहसा अधिकार-भावना जगती है। वह देखता है कि जैसे-जैसे वह इस पथ पर बढ़ता जा रहा है, वैसे-वैसे व्यक्तित्वहीन होता जा रहा है। यह वह सहन नहीं कर पाता और लौट पड़ता है। जहाँ था वहीं आ जाता है।

दूसरे पथ का अनुसरण करते ही मन बुद्धि (इड़ा) के जाल में फँस जाता है; नवीन-नवीन कल्पनाओं (स्वप्न) को उसके सहारे सत्य में परिणत होते देखता है। यहाँ देखता है कि इस बुद्धि का कार्यक्रम अनंत है। जितना बढ़ता है, उतनी प्यास बढ़ती जाती है। बुद्धि पर अधिकार किसका हुआ है ? जिस अधिकार-भावना को लेकर मन बढ़ा था, वह अधूरी रह गई। असंतुष्ट होने पर बुद्धि से उसका झगड़ा (संघर्ष) होता है और फिर उससे उदासीनता (निर्वेद) उत्पन्न हो जाती है। सत् पथ को त्याग संघर्ष के पथ में पड़ आज मन घायल पड़ा है।

ठीक इसी समय बिना बुलाये श्रद्धा फिर आती है। मन संकोच का अनुभव करता है, पर श्रद्धा उसका पीछा नहीं छोड़ती! यह श्रद्धा इस बार मन को और ऊँचा उठाकर पारलौकिक सुख के गिरि पर ले चलती है। मन को अलौकिक शक्ति की झलक दिखाई देती है। क्रिया, इच्छा और ज्ञान को भस्म कर अर्थात् जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति से आगे बढ़, मन श्रद्धा के साथ (समाधि अवस्था में) केवल आनन्द का अनुभव करता है। अतः चिन्ता के विषादमग्न वातावरण से मुक्त हो मन, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा (बुद्धि), स्वप्न (बुद्धि कर्म), संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य (रहस्योद्‌घाटन) के स्तरों को पार करता आनन्द-लोक का अधिवासी बनता है।

कामायनी को बहुत सचेत होकर प्रसाद ने लिखा है। इतने सहज ढंग से कोई अन्य व्यक्ति रूपक का निर्वाह कर सकता था हमें तो विश्वास नहीं होता। रहस्य सर्ग का प्रारम्भिक वर्णन पढ़िये। प्रतीत ऐसा होता है कि दो पथिकों के हिमालय पर चढ़ने का वर्णन ही वहाँ है। पर क्या 'नील तमस' में उस 'ऊर्ध्व देश' तक जाने वाले 'पथ' की अनिर्दिष्टता, 'पथिकों' का 'ऊपर बढ़ना' और 'प्रतिकूल पवन' का उन्हें धक्का देना, नीचे स्थित उन सभी वस्तुओं का जो अत्यन्त रम्य प्रतीत होती हैं, वहाँ पहुँच कर अत्यन्त 'छोटा' दिखाई देना, मनु का 'साहस छूटना', जिन्हें वह नीचे छोड़ आया है उनके लिए उसके हृदय में फिर ममता का जगना और 'देश-काल रहित' अवकाश में पहुँचने पर भी श्रद्धा का उसे सँभालते हुए इस प्रकार समझाना, पथिकों के श्रम का कोरा वर्णन ही है क्या?

हम बढ़ दूर निकल आए अब,
करने का अवसर न ठिठोली।

इच्छा, कर्म, ज्ञान

रहस्य शीर्षक सर्ग में श्रद्धा ने मनु की इच्छा का रागारुण, कर्म का श्यामल और ज्ञान का रजतोज्ज्वल, तीन लोक दिखाये हैं और उनके सामंजस्य में जीवन का वास्तविक सुख बताया है। 'केवल इच्छा' पंगु है।

उसे कर्म का सहारा चाहिए। 'केवल कर्म' अन्धा है। उस पर विवेक या ज्ञान का नियन्त्रण होना चाहिए। मनु दोनों स्थितियों को देख चुके हैं। 'केवल ज्ञान' भी संसार में विषमता फैलाने वाला है, क्योंकि ज्ञानी जब 'इच्छाओं को झुठलाते हैं', तब संसार का विकास कैसे होगा ?

पहले किसी वस्तु का ज्ञान होता है। फिर उसके सम्बन्ध में इच्छा उत्पन्न होती है। और तब इच्छा की पूर्ति के लिए मनुष्य कर्म में लीन होता है। ज्ञान, इच्छा, क्रिया की इस प्रसिद्ध त्रयी से रहस्य सर्ग के इच्छा, कर्म, ज्ञान के त्रिक् को भिन्न समझना चाहिए। इन्द्रियों का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का दास होना, भावना के अनुकूल पाप-पुण्य का सृजन करना ही माया है। यह इच्छा-लोक है। नियति की प्रेरणा से किसी न किसी प्रकार की इच्छा प्राणी को कर्म में लीन रखती है। यहाँ केवल श्रम है, विश्राम नहीं। यहाँ आने पर कल्पना टुकड़े-टुकड़े हो जाती है। इस संघर्ष में केवल शक्तिशाली विजयी होता है। कर्म में लीन होने वाले अपने-अपने संस्कारों के अनुसार जन्म जन्मान्तर में भटकते फिरते हैं। यह कर्मलोक की व्याख्या है। शास्त्र-ज्ञान के अभिमानी, जीवन से उदासीन, बुद्धि के अनुयायी, तप में लीन, मुक्ति के इच्छुक व्यक्ति ज्ञानलोक के निवासी हैं। इससे प्रतीत होता है कि कोई नवीन बात तो प्रसाद ने नहीं कही। श्रद्धा की मुस्कान की ज्वाला से इन तीनों लोकों को भस्म कर कवि ने मनु को 'दिव्य अनाहत' का अधिकारी लिखा है। यह तुरीयावस्था है जब क्रिया (जागरण) इच्छा (स्वप्न) और ज्ञान (सुषुप्ति) की अवस्था को पार कर साधक शुद्ध चेतन की अनुभूति का आनन्द लेता है। कामायनी का चमत्कार यही तो है कि जो आप को बाहर दिखाई देगा, वह अन्तर में भी। इच्छा, ज्ञान क्रिया के लोक क्या वास्तव में बाहर दिखाई दिए हैं ?

'इच्छा' और 'कर्म' का स्वरूप तो प्रसाद ने ठीक रखा है, पर ज्ञान-तत्व को अधिक चिंतन से नहीं ग्रहण किया। उसके स्वरूप को बहुत हल्का प्रदर्शित किया है। आजकल के कुछ दम्भी सन्यासियों पर ही, जिनका साक्षात्कार प्रचुरता से संभवतः काशी में होता रहता हो, उनकी दृष्टि पड़ी है। जीवन-रस से भिन्न रस की उन्होंने उपेक्षा-सी की है। इस पर किंचित् आश्चर्य होता

है। आनन्द सर्ग में आत्मानुभूति की व्यापकता को, सबको अपना समझने की वृत्ति को, उन्होंने जीवन का सबसे बड़ा आदर्श माना है। यह तो ठीक है, पर इसके लिए ज्ञान को तुच्छ सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं थी। उन्हीं के शब्दों में देखिए—

न्याय, तपस, ऐश्वर्य में पगे
ये प्राणी चमकीले लगते,
इस निदाघ मरु में, सूखे से
स्रोतों के तट जैसे जगते।
सामंजस्य चले करने ये
किन्तु विषमता फैलाते हैं,
मूल स्वत्व कुछ और बताते
इच्छाओं को झुठलाते हैं।

पात्र

मनु एक दीर्घकाय स्वस्थ व्यक्ति हैं, 'पुरुष' हैं। पुरुष शब्द का उच्चारण करते ही पौरुष का भाव ध्वनित होता है। कवि ने प्रथम सर्ग में ही उनके शरीर की दृढ़-गठन और सबलता का परिचय देने के लिए उनकी दृढ़ मांस-पेशियों और स्वस्थ शिराओं की चर्चा की है। आखेट-व्यसनी मनु की कल्पना भी एक दृढ़ सबल स्फूर्तियुक्त पुरुष की भावना ही सामने लाती है। और आगे चलकर जब प्रजा और प्रकृति के सम्मिलित विद्रोह का सामना करने के लिए मनु अपना धनुष उठाते हैं, तब शक्ति का दुरुपयोग करने से यद्यपि अत्याचारी या बर्बर कहकर उनकी असंयत बुद्धि और अनियंत्रित हृदय का तिरस्कार करने की इच्छा भी जागरित होती है, पर उनके पौरुष पर एक प्रकार का आश्चर्य होता ही है। स्वभाव से मनु अत्यन्त चिंतनशील हैं और सिद्धांत से घोर व्यष्टिवादी या स्वार्थी। कामायनी की वे उक्तियाँ जो इस काव्य-भवन की जगमगाती मणियाँ है, प्रायः मनु के मुख से ही निकली हैं। वे सब कुछ अपने चरणों में झुकते देखना चाहते हैं। 'अहं' और 'उच्छृंखलता' से उनके चरित्र का निर्माण हुआ है। वे देना नहीं जानते, केवल लेना जानते

हैं। सभी को नियमों में बाँध कर रखना चाहते हैं, स्वयं नियमों से परे रहना चाहते हैं। श्रद्धा और इड़ा दोनों के प्रति उन्हें आकर्षण होता है, पर इस स्वामित्व-भावना के कारण न वे श्रद्धा को अपना सके और न इड़ा को प्राप्त कर सके। जीवन के कटु अनुभवों ने मनु के 'अहं' को जब जला दिया, 'अमरता के जर्जर दम्भ' को जब पीस दिया, तब वास्तविक आनन्द उन्हें प्राप्त हुआ। एकाधिपत्य के प्रबल समर्थक ने अपने व्यक्तित्व को श्रद्धा की अनुकम्पा से व्यापक बना डाला—

मनु ने कुछ कुछ मुसक्या कर
कैलास ओर दिखलाया
बोले "देखो कि यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया ॥

हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमीं हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ कमी नहीं है ॥"

अलौकिक सुन्दरी 'श्रद्धा' नारी कर मंगल रूप है। केवल कोमलता से उसका निर्माण हुआ है। उसकी ममता पशुओं तक विस्तृत है। स्नेह की वह देवी है। हिंसा और स्वार्थ का वह घोर विरोध करती है, करुणा का मार्ग दिखलाती है। मनु दो बार उसे छोड़ कर भागते हैं और श्रद्धा दोनों बार मन में मैल न लाती हुई मनु के हृदय का बोझ हल्का करती है। प्रेम में विश्वासघात के दोषी मनु को श्रद्धा का अपनाना नारी-हृदय की अनन्त क्षमा का परिचय देता है। यहाँ नारी ने नर को पराजित कर दिया। सच पूछिए तो प्रेम में नारी ने नर को सदैव पराजित किया है—क्या सीता ने राम को, क्या राधा ने कृष्ण को और क्या गोपा ने बुद्ध को! छाया के समान मनु का साथ उसने दिया है। वह ऐसी छाया है जो ताप-दग्ध शरीर को ही नहीं, व्याकुल मानस को भी शीतल रखती है। उसी के शब्दों में—

देकर कुछ कोई नहीं रङ्क।

वैभव-विहीना संध्या के उदास वातावरण में कामायनी का विरह-वर्णन कितना स्वाभाविक और विषाद को घनीभूत करने वाला है और कितने थोड़े शब्दों में किस मार्मिकता से व्यक्त किया गया है। किसी के विरह-वर्णन में एक साथ आप सवा सौ पृष्ठ काले कर दें तो इससे यह तो पता चल जायगा कि आप एक बात को फैलाकर कह सकते हैं, या किसी के वियोग की कथा को एक-से ढंग पर दस विरहिणियों के द्वारा व्यक्त करायें तो यह भी पता लग जायगा कि विरह एक प्रकार का दौरा है जो बारी-बारी कभी किसी को और कभी किसी को उठता है। महाकाव्य में वर्णन के विस्तार का जो अधिकार प्राप्त है उसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि आप उसे ऐसा विस्तार दें कि वह अपना प्रभाव ही खो बैठे। पाठकों के मस्तिष्कों के पात्रों की भी एक माप है जिसमें अधिक रस डालने से उछलने लगता है। अधिक विस्तृत वर्णन में सम-रसता नहीं रह सकती, अतः अच्छे कवि इस बात का ध्यान रखते हैं कि अपनी ओर से उचित परिमाण में ही किसी रस को पिलावें। अशोकवृक्ष के नीचे बैठी सीता का विरह-वर्णन कितना संयत है, कितना संक्षिप्त और कितना प्रभावशाली! इसी सुरुचि का परिचय प्रसाद जी ने 'स्वप्न' सर्ग में दिया है। प्रकृति के प्रतीकों के सहारे कामायनी के क्षीण शरीर का आभास, प्रकृति के प्रसन्न वातावरण के सम्पर्क से पीड़ा की तीव्रता का अनुभव, अतीत की मधुर घड़ियों का स्मरण, थोड़े से आँसू और बालक के 'मा' शब्द के उच्चारण से एक गहरा आघात—और बस!

इड़ा आकर्षक है, प्रेरणामयी है। श्रद्धा ने उसे 'मस्तिष्क की चिर अतृप्ति' कहा है। वह मनुष्य को स्वावलंबी बनाती है—

हाँ तुम ही हो अपने सहाय
जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर किसकी नर शरण जाय
जितने विचार संस्कार रहे उसका न दूसरा है उपाय
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्यभरी शोधक विहीन
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता

तुमहीं इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता
तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाय ।

कवि ने कुछ तो रूपक के आग्रह से और कुछ विशेष उद्देश्य से उसे कठोर-हृदया बनाया है । उसकी दृढ़ता से मनु के 'अहं' को धक्का लगता है जिससे उनका उर कोमल होकर श्रद्धा की उत्सर्ग-भावना से पिघलता है ।

श्रद्धा विश्वास है, इड़ा बुद्धि । श्रद्धा आत्म-समर्पण है, इड़ा अंकुश । मनु ने दोनों को अभाव की अवस्था में प्राप्त किया । जब मनु का मन क्षुधित था, तब श्रद्धा आई । उसने प्रेम दिया । जब मस्तिष्क विक्षुब्ध था, तब इड़ा आई । उसने कर्म-पथ सुझाया । दोनों अनन्य सुन्दरी हैं । एक मनु के मन के अभाव को भरती है दूसरी बुद्धि के, एक उसे हृदय की गहराई में उतारती है, दूसरी उसे प्रकृति से संघर्ष करना और तत्त्वों पर विजय प्राप्त करना सिखलाती है । दोनों उसे चिन्ता से मुक्त करती हैं । मनु दोनों को ठीक से न समझ सके । उन्होंने एक के प्रेम को स्वीकार न किया, दूसरी उसे प्रेम दे नहीं सकी । एक उसे प्रेम की व्यापकता सिखलाती है जिसे वह पहले समझ नहीं पाता, दूसरी 'निर्बाधित अधिकार' पर आक्षेप करती है जिसे वह स्वीकार नहीं करता । एक उसे क्षमा कर देती है । दूसरी संकट में डाल देती है । एक उसके विरह में व्याकुल होती है, दूसरी उदासीन रहती है । एक उसे खोकर पाती है, दूसरी उस खोये हुए को पाकर फिर निश्चिन्त होकर खो देती है । दोनों दुःख का समाधान हैं । एक दुःख की जीवन में सार्थकता सिद्ध करती है, दूसरी विज्ञान की सहायता से उसे चूर्ण करने की सम्मति देती है । कवि का सन्देश है कि श्रद्धा ही आनन्दविधायिनी है; पर इड़ा भी व्यर्थ नहीं है। हाँ, उससे जीवन भर चिपके मत रहो । अपनी संतति को उसे सौंप साधना में लीन हो जाओ । इस प्रकार सृष्टि का विकास भी चलता रहेगा और आत्मा का विकास भी । व्यक्ति की दृष्टि से कामायनी ही एकांत मंगल-प्रदा-यिनी है । लोक के सुख का उपभोग करने के उपरान्त, लोक से विरक्त होते हुए लोक कल्याण में अनुरक्त रहना कामायनी के कवि का विश्व को, उस विश्व को जो आज के यंत्र-युग में घोर जड़वादी (Materialistic) होकर

अपनी ही जटिलताओं में फँसा हुआ (इड़ा सर्ग में काम का मानव-सृष्टि को अभिशाप आज की वास्तविक दशा का प्रतिबिंब है) तड़प रहा है, शान्ति का एक सनातन-संदेश है—

वह 'कामायनी' जगत की,
मङ्गल कामना अकेली ।

आक्षेप

आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में प्रसाद जी की विचार-धारा में कई दोष ढूँढ़े हैं । उनका कहना है कि जब दोनों (इड़ा, श्रद्धा) अलग-अलग सत्ताएँ करके रखी गई हैं तब एक को दूसरी से शून्य कहना (सिर चढ़ी रही पाया न हृदय) और दूसरी को पहली से शून्य न कहना, गड़बड़ में डालता है । इस आक्षेप का उत्तर यह है कि शुक्ल जी जिसे भूल कहते हैं, उसका ज्ञान 'प्रसाद' जी को था । कामायनी ने इड़ा के हाथ जब कुमार को सौंपा है, तब जीवन की समरसता और बुद्धि दोनों के योग पर जोर दिया है । इसी से उसने कहा है—

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय
तू मननशील कर कार्य अभय
इसका तू सब संताप निचय
हर ले, हो मानव भाग्य उदय
सब की समरसता कर प्रचार
मेरे सुत सुन मा की पुकार

यह खुली हुई बात है कि अपने संस्कारों के कारण शुक्ल जी रहस्यवाद के अकारण विरोधी थे । कामायनी में प्रसाद के 'संवेदन' शब्द के प्रयोग पर उनके आक्षेप का आधार ही यह है कि 'रहस्यवाद की परम्परा में चेतना से असंतोष की रूढ़ि चली आ रही है', अतः प्रसाद ने 'संवेदन का तिरस्कार' किया है । पर बात वैसी नहीं है । 'आशा' सर्ग में ('चिंता' के अंतर्गत

नहीं, जैसा शुक्ल जी ने लिखा है) संयम से रहने और तप करने के कारण युवक मनु ने नवीन शारीरिक बल प्राप्त किया; अतः स्वास्थ्य-सम्पन्नता की दशा में किसी संगिनी के सम्पर्क के लिए विकल होना अत्यन्त स्वाभाविक था। इसी प्रसंग में 'संवेदन' शब्द आया है—

तप से संयम का संचित बल
तृषित और व्याकुल था आज,
अट्टहास कर उठा रिक्त का
यह अधीर तम, सूना राज।

मनु का मन था विकल हो उठा
संवेदन से खाकर चोट,
संवेदन जीवन जगती को
जो कटुता से देता घोंट।

आह कल्पना का सुन्दर यह
जगत मधुर कितना होता,
सुख स्वप्नों का दल छाया में
पुलकित हो जगता सोता।

संवेदन का और हृदय का
यह संघर्ष न हो सकता,
फिर अभाव असफलताओं की
गाथा कौन कहाँ बकता।

कब तक और अकेले ? कह दो
हे मेरे जीवन बोलो,
किसे सुनाऊँ कथा ? कहो मत
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।

यहाँ 'संवेदन' शब्द सहानुभूति-प्रदर्शन या प्रेम-प्राप्ति की आकांक्षा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जीवन में कटुता या पीड़ा इसीलिए है कि हम ऐसी आशा बाँधे रहते हैं कि कहीं कोई हमारे हृदय को समझने-सँभालने वाला

भी होता। पर हाथ आती है सूनी निराशा। संवेदन (स्नेह-प्राप्ति) और हृदय का इसी से मानो संघर्ष (विरोध) चल रहा है। परिणाम-स्वरूप जीवन में अभाव और असफलताएँ हैं। यदि केवल कल्पना से काम चल जाता तब भी जीवन में हताश स्थितियों का सामना न करना पड़ता, पर हृदय तो चाहता है साकार आधार! प्रत्यक्ष (Practical) प्रमाण!!

शुक्ल जी के अनुसार 'संवेदन को बोध-वृत्ति के अर्थ में व्यवहृत' इसलिए नहीं मान सकते कि यदि कटुता का कारण केवल यह है कि हमें ज्ञान होता है अर्थात् हम चेतन हैं जड़ नहीं, तब कवि ने निराशा से बचने का मार्ग जो 'कल्पना का सुन्दर जगत' बतलाया है, वह व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि कल्पना में भी तो संवेदन से छुटकारा नहीं। यहाँ 'संवेदन' शब्द अपने से भिन्न किसी के हृदय में प्रणयानुभूति जगाने की इच्छा के अर्थ में ही आया है। इसी से मनु अन्त में एक कराह के साथ पूछते हैं—

कब तक और अकेले ?

'संघर्ष' सर्ग में जो 'संवेदन' शब्द आया है, उसका अर्थ तो पंक्तियों से ही स्पष्ट है। फिर पता नहीं शुक्ल जी ने कैसे आक्षेप किया है? देखिए—

तुमने योगक्षेम से अधिक संचय वाला,
लोभ सिखाकर इस विचार सङ्कट में डाला।
हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।

यहाँ लोभ से उत्पन्न और कृत्रिम (काल्पनिक) दुःख पर कष्टानुभव के अर्थ में संवेदन शब्द आया है। लोभ और कृत्रिम दुःख निन्द्य और अनावश्यक हैं; अतः अवास्तविक। पर वास्तविक दुःख पर कष्टानुभव का अर्थ शुक्ल जी ने कैसे भिड़ाया, यह समझते नहीं बनता। इन्हीं पंक्तियों से यह ध्वनित है कि 'योगक्षेम' (आवश्यकताओं की पूर्ति) के लिए तो सञ्चय करना ही पड़ेगा। कृत्रिम दुःख के संबंध में 'प्रसाद' के विचार 'एक घूँट' एकांकी नाटक के इस कथोपकथन में देखिए—

मुकुल—(बात काटते हुए) ठहरिए तो, क्या फिर 'दुःख' नाम की कोई वस्तु हुई नहीं ?

आनन्द—होगा कहीं। हम लोग उसे खोज निकालने का प्रयत्न क्यों करें ? अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि और दुःख के काजल आँखों के आँसू में घोल कर सृष्टि के सुन्दर कपोलों को क्यों कलुषित करें ?

'दूसरों की पीड़ा के संवेदन' का विरोध कामायनी में नहीं है। मनु प्रारंभ में स्वार्थी अवश्य हैं; पर अनेक प्रकार के मानसिक संघर्षों को पार कर अंत में वह भी सँभल गए हैं। इड़ा भी श्रद्धा से मिलकर इतनी रूखी नहीं रही है और कामायनी (श्रद्धा) तो ममता की ही जैसे प्रतीक है—

श्रद्धा—

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकांत स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा।
औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सब को सुखी बनाओ।

इड़ा—

"अति मधुर वचन विश्वास-मूल।
मुझ को न कभी ये जायँ भूल।
हे देवि तुम्हारा स्नेह प्रबल,
बन दिव्य श्रेय उद्गम अविरल,
आकर्षण घन सा वितरे जल,
निर्वासित हों संताप सकल।"

मनु—

सब की सेवा न पराई
वह अपनी सुख संसृति है।

शुक्ल जी का तीसरा आक्षेप 'इच्छा कर्म और ज्ञान' के सामंजस्य में श्रद्धा के स्थान पर है—

"जिस समन्वय का पक्ष कवि ने अंत में सामने रखा है उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रवृत्ति के कारण काव्य के भीतर नहीं होने पाया है। पहले कवि ने कर्म को बुद्धि या ज्ञान की प्रकृति के रूप में दिखाया, फिर अन्त में कर्म और ज्ञान के विंदुओं को अलग-अलग रखा। पीछे आया हुआ ज्ञान भी बुद्धिव्यवसायात्मक ज्ञान ही है, (योगियों या रहस्यवादियों का पर-ज्ञान नहीं) यह बात 'सदा चलता है बुद्धि चक्र' से स्पष्ट है।

जहाँ 'रागारुण कंदुक-सा, भावमयी प्रतिमा का मन्दिर' इच्छाविन्दु मिलता है वहाँ इच्छा रागात्मिका वृत्ति के अंतर्गत है, अतः रति-काम से उत्पन्न श्रद्धा की ही प्रवृत्ति ठहरती है। पर श्रद्धा उससे अलग क्या तीनों विंदुओं से परे रखी गई है।"

मनु जब इड़ा से प्रथम बार मिलते हैं और जीवन की अशांति का समाधान वे उससे चाहते हैं, तब उसने समझाया है कि स्वावलंबी न होकर मनुष्य का ईश्वर के भरोसे बैठा रहना बड़ी मूर्खता है। ईश्वर को मानने न मानने से विशेष अंतर नहीं पड़ता। मनुष्य को अपनी सहायता आप करनी होगी। जो बुद्धि कहे उसे मानकर प्रकृति के पटल खोलने के लिए तुम तैयार हो जाओ, कर्मलीन हो।

तब मूर्ख आज तक क्यों समझे हैं, सृष्टि उसे जो नाशमयी
उसका अधिपति ! होगा कोई, जिस तक दुख की न पुकार गई।
कोई भी हो वह क्या बोले, पागल बन नर निर्भर न करे,
अपनी दुर्बलता बल सँभाल गन्तव्य मार्ग पर पैर धरे।
हाँ, तुम ही हो अपने सहाय।
जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर किसकी नर शरण जाय ?
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन,
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्म लीन
—इड़ा

यहाँ कर्म और बुद्धि या ज्ञान लौकिक उन्नति से सम्बन्ध रखते हैं। पर रहस्य सर्ग में कर्म और ज्ञान को जो अलग-अलग रखा है वह इसलिए कि वहाँ बुद्धि-चक्र पर चलने वाला ज्ञान निश्चित रूप से वैराग्य से संबंधित है। जिस छन्द में 'बुद्धि-चक्र' शब्द आया है वहीं 'सुख-दुख से उदासीनता' की चर्चा भी श्रद्धा ने की है—

प्रियतम ! यह तो ज्ञानक्षेत्र है
सुख दुख से है उदासीनता,
यहाँ न्याय निर्मम चलता है
बुद्धि चक्र, जिसमें न दीनता,

अर्थात् सांसारिक ऐश्वर्य की ओर ले जाने वाली बुद्धि प्रवृत्ति मार्ग की है और ज्ञान की ओर ले जाने वाली बुद्धि निवृत्ति मार्ग की। ज्ञान-लोक के प्रसंग में ज्ञानियों के सम्बन्ध में 'ये निस्संग' 'ये निस्पृह' 'अम्बुज वाले सर' 'अछूत रहा जीवन रस' आदि सब इसी बात की घोषणा कर रहे हैं। रहस्य सर्ग में ज्ञान से तात्पर्य 'पर-ज्ञान' का ही है। नहीं तो फिर इसका क्या अर्थ होगा ?

मूल स्वत्व कुछ और बताते,
इच्छाओं को झुठलाते हैं।

यह तो सत्य है कि जहाँ इच्छा रागात्मिकता वृत्ति है वहाँ श्रद्धा भी। पर दोनों में अन्तर है। इच्छा सामान्य (Indefinite) वृत्ति है, श्रद्धा विशेष (Definite)। इसी से उसे तीनों विन्दुओं से परे रखा है। इच्छा शुभ भी हो सकती है, अशुभ भी। यही कारण है कि कवि ने इच्छा-लोक के प्रसंग में उसके पूर्ण स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए उसे पुण्य-पाप की जननी, वसन्त-पतझर का उद्गम, अमृत-हलाहल का मिलन और सुख दुःख का बन्धन माना है। पर श्रद्धा का स्वरूप काव्य के एक छोर से दूसरे छोर तक केवल कल्याण-मंडित है। इच्छा चंचल है, पर श्रद्धा—उसे आस्था कहो तो, निष्ठा कहो तो, विश्वास कहो तो—एक अडिग वृत्ति। बिना श्रद्धा के न इच्छा

कुछ है, न कर्म कुछ और न ज्ञान। इसी से उसका अस्तित्व पृथक् माना है। वह पृथक् है।

यह शुक्ल जी की बात हुई। पर और एक हैं जिन्हें कामायनी में काव्यत्व ही नहीं दिखाई पड़ता।

खड़ी बोली में अब तक गणनायोग्य चार प्रबन्ध-काव्य प्रकाशित हुए हैं—कामायनी, साकेत, नूरजहाँ, 'प्रिय-प्रवास'*। कामायनी में कथानक न होने के बराबर है, पर कवि इसके लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि मानवों की जिस आदि सृष्टि की गहन गुहा से वह कथा की मणि को निकाल कर लाया है, जीवन की जटिलता वहाँ थी ही नहीं। मनु का चरित ऐसा नहीं है जो 'स्वयं ही काव्य' हो और जिसे छूकर किसी का भी कवि बन जाना 'सहज-संभाव्य' हो सके। अर्थात् महाकाव्य के लिए बनी बनाई जिन महान् घटनाओं की आवश्यकता होती है, उनका एक प्रकार से यहाँ अभाव है। इसमें आदि पुरुष और आदि नारी की कहानी है; अतः विकसित जीवन की उलझनें जैसे रामायण में राज्य-लोलुपता, संस्कृति-संघर्ष आदि उनके सामने नहीं हैं। कहीं-कहीं तो मानसिक वृत्तियाँ भी मूलरूप में आई हैं। कामायनी केवल तीन चरित्रों की कथा है। साकेत में कथानक थोड़ा अधिक है, पर कवि को उसके लिए गौरव नहीं दिया जा सकता, क्योंकि बहुतों ने उसे गाया है। प्रिय-प्रवास का कथानक भी 'कामायनी' की भाँति एक दम क्षीण है। 'नूरजहाँ' में कथानक पर्याप्त (rich) है; पर उसका कलाकार मध्यम श्रेणी का कलाकार है। इन चारों कवियों में कामायनी का कलाकार ही एक ऐसा कलाकार है जिसमें भावुकता (Emotion), कल्पना (Imagination) और विचार (Thought) का अपूर्व मिलन अत्यन्त उत्कृष्ट रूप (शैली) में अत्यन्त उच्च धरातल पर हुआ है। हिन्दी के आधुनिक कवियों में विश्व-कवियों की-सी प्रतिभा केवल प्रसाद में थी, या गीत-काव्य के क्षेत्र में फिर महादेवी जी में है। यदि खड़ी बोली का सब कुछ नष्ट हो जाय और किसी प्रकार कामायनी का कोई-सा केवल एक सर्ग बच जाय, तब भी किसी देश

* अब कुरुक्षेत्र (दिनकर) और जयभारत (मैथिलीशरण गुप्त) की गणना भी श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्यों में होनी चाहिए।

का कोई पारखी यही निर्णय देगा कि भारत में कभी कोई महान-कलाकार वास करता था। आज के अन्य प्रबन्ध-काव्यों से 'कामायनी' की कोई तुलना नहीं है। अतः भावावेश में किसी काव्य-ग्रन्थ की प्रशंसा में जो यह लिखते हैं कि कामायनी किसी पुस्तक विशेष के सामने 'मनोविज्ञान की ट्रीटाइज़' सी लगती है, वे 'प्रसाद' की प्रतिभा का स्पष्ट शब्दों में अपमान करते हैं।

श्रद्धा-मनु के आकर्षण से लेकर मिलन तक की गाथा बड़ी आकर्षक है। आकर्षण के मूल में प्रायः सौंदर्य रहता है। प्रलयकाल में मनु के भीतर उपेक्षामय जीवन का जो मधुमय स्रोत वह रहा था, वह श्रद्धा के मधुर सौंदर्य की ढलकाऊ भूमि पाते ही वेग से बह उठा। उसे सामीप्य-लाभ के लिए कोई विकट प्रयत्न नहीं करना पड़ा—न राम की तरह धनुष तोड़ना पड़ा, न रत्नसेन की तरह चोर बनना पड़ा, न सलीम की तरह किसी अफ़ग़ान की हत्या करानी पड़ी और न एडवर्ड की तरह साम्राज्य ही छोड़ना पड़ा, यहाँ तक कि न रात के बारह बजे इत्र में डुबाकर पत्र लिखने पड़े और न आँसुओं से तकिये भिगोने पड़े। पर आगे चलकर ज्योत्स्ना-स्नात मधुयामिनी के अधीर पुलकित एकांत वातावरण में नर के विकल अशांत वक्ष से आवेग की चिनगारियों का फूटना और नारी का गम्भीरता से 'मत कहो पूछो न कुछ' कहना और उसके पश्चात् के पलों को—सामान्य नर और सामान्य नारी के जीवन के उस मधुर वसंत को—किस असामान्य रंगीनी और सधी तूलिका से कवि ने चित्रित किया है! हमारी भावनाओं की मूर्ति खड़ी करना, अरूप को रूप देना, कितना असाध्य काम है, यह हम इसी से समझ सकते हैं कि हम सभी जब भावों में लीन होते हैं तब क्या अपनी विह्वलता और मधुरता का विश्लेषण कर सकते हैं? इतना ही जान पाते हैं कि मन को कुछ हो गया है, पर क्या हो गया है यह तो नहीं कह पाते। कामायनी के 'काम', 'वासना' और 'लज्जा' सर्ग को पढ़ते-पढ़ते ऐसा प्रतीत होता है जैसे युग-युग की यौवन की मूकता को कवि ने वाणी प्रदान की है। इन पृष्ठों की प्रशंसा में यदि मैं कहूँ कि वृत्तियों का मानवीकरण किया है, मनोवैज्ञानिक पुट है, अलंकारों का सुन्दर निर्वाह हुआ है, व्यंजना से काम लिया है, वर्णनों में चलचित्रों की चंचलता भरी हुई है, तो क्या सन्तोष होता है? वैसे पूरी कामायनी में अन्तर की रसभरी

पंखुरियों पर पंखुरियाँ खुलती जाती हैं, पर इन तीन सर्गों में तो 'प्रसाद' ने संज्ञा को मुग्ध कर दिया है, उसे लोरी देकर सुला दिया है। इससे अधिक क्या कहें! यह रस-दान काव्य की अपनी वस्तु है और निश्चयपूर्वक वह 'मनोविज्ञान' की किसी 'ट्रीटाइज़' में नहीं मिलेगा।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति को लेकर 'कामायनी, में 'प्रसाद' जी की विशेषता है उसके भयंकर विनाशकारी स्वरूप को चित्रित करना। शशि की रेशमी विभा से भरी जल की जो लहरें 'नौका-विहार' के समय साड़ी की सिकुड़न-सी प्रतीत होती हैं, वे हमें निगल भी सकती हैं; जो अनिल केवल इसलिए गन्धयुक्त है कि वह किसी की 'भावी पत्नी' के सुरभित-मृदु-कचजाल से गन्ध चुरा लाया है, वह घनीभूत होकर श्वासों की गति रुद्ध भी कर सकता है; जो विद्युत किसी के अंग की आभा और चञ्चलता का उपमान बनती है और वर्षा की बूँदों को अपनी चमक से सोने की बूँदें बनाती है, वह कहीं गिरकर वज्र का रूप भी धारण करती है और 'गरल जलद की खड़ी झड़ी' की सहायक भी होती है। कामायनी के प्रारम्भ में पञ्चभूत के भैरव मिश्रण से जो प्रलय की हाहाकारमय स्थिति उपस्थित हुई, 'प्रसाद' द्वारा प्रकृति के उस दुर्दमनीय स्वरूप का चित्रण चमत्कृत करने वाला है—

उधर गरजतीं सिन्धु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी,
चली आ रहीं फेन उगलतीं
फन फैलाए व्यालों सी।

रम्य प्रभात, धूसर मलिन संध्या और ज्योत्स्ना चर्चित रजनी के अनेक चित्र कामायनी के कवि ने अंकित किये हैं। एक ओर प्रभात के कोमल अनुराग को बिखेर कर सृष्टि को कमनीय भी बनाया गया है और दूसरी ओर इड़ा के सौंदर्य की पृष्ठभूमि में उसे और भी उज्ज्वलता प्रदान की है। हिमखण्डों पर पड़कर रवि-किरणें असंख्य हिमकरों का सृजन भी करती हैं

और इड़ा मनु के मिलन को देख शून्य में उषा मुसकरा भी देती है। गोधूलि-बेला सृष्टि पर एक करुण मलिन छाया भी छोड़ जाती है और पश्चिम की लालिमा को अंधकार से दबता देख अहेरी मनु की प्रतीक्षा करती-करती श्रद्धा व्याकुल भी हो उठती है। तारे तम के सुन्दरतम रहस्य भी हैं और व्यथित हृदय को शीतलता प्रदान करने वाले भी। रजनी वसुन्धरा पर चाँदनी भी उड़ेलती है और मनु के मन को मथ भी डालती है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति का वर्णन केवल प्रकृति-वर्णन के लिए भी है और भावों को प्रभावित करने के लिए भी। चेतना प्रदान करने, वातावरण की सृष्टि करने और सहज रूप में देखने के साथ-साथ उपमानों के रूप में प्रकृति के दृश्यों का हृदय खोल कर उपयोग किया गया है।

घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलंबित मुख के पास,
नील घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।

'स्वप्न' के आरम्भ में वियोग, 'काम' के आरंभ में वसंत के रूप में यौवन और 'लज्जा' के आरंभ में लज्जा आदि के विस्तृत वर्णन प्रकृति के आधार पर ही करुण से करुणतर, रम्य से रम्यतर और मधुर से मधुरतम बने हैं! मन की उद्दाम वासना को व्यक्त करने के लिये प्रकृति का बहुत ही उपयुक्त आवरण 'प्रसाद' को 'आँसू' और 'कामायनी' दोनों में मिला है। प्रकृति के प्रति शृंगारी दृष्टि का एक ही उदाहरण देखिए—

फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली ?

देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली भाली।

स्वतंत्र स्थलों में हिमालय के वर्णन अधिक हैं। हिमालय अधिकतर पात्रों की लीलाभूमि होने के कारण बार-बार कवि के दृष्टि-पथ में आया है। पचास प्रकार से उसे घुमा-फिरा कर कवि ने देखा है। एक स्थल पर उसे किसी पीड़ा से कम्पित 'धरा की भयभीत सिकुड़न' कहा है। दूसरे स्थल पर समुद्र में मग्न होने वाली अचला का अवलम्बन-अंचल कह कर कैसे विराट् दृश्य की कल्पना की है!

(१) विश्व कल्पना सा ऊँचा वह
सुख शीतल सन्तोष निदान
और डूबती सी अचला का
अवलम्बन मणि रत्न निधान

—आशा

(२) क—धरा की यह सिकुड़न भयभीत
आह कैसी है? क्या है पीर?
ख—मधुरिमा में अपनी ही मौन
एक सोया संदेश महान। —श्रद्धा

(३) रवि कर हिम खंडों पर पड़ कर
हिमकर कितने नये बनाता।

—रहस्य

हिमगिरि और संध्या दोनों के संयोग का एक संश्लिष्ट चित्र देखिए—

संध्या-घनमाला की सुन्दर
ओढ़े रङ्ग-बिरङ्गी छींट,
गगन-चुम्बिनी शैल-श्रेणियाँ
पहने हुए तुषार-किरीट।

सृष्टि-रचना

प्रसाद ने प्रेम-मूला सृष्टि की रचना अणुवाद (Atomic Theory) के आधार पर मानी है। इससे उन्होंने भावना और विज्ञान को मिला दिया है। कहना चाहिये कि कवि ने वैज्ञानिक के मस्तिष्क से सोचा है या वैज्ञानिक भावुक हो गया है।

काम सर्ग में अनंग कहता है कि वह और रति इस सृष्टि से भी पुराने हैं। जैसे वसन्त के आते ही लता पुष्प देने योग्य बनती है, उसी प्रकार सूक्ष्म प्रकृति ने जब यौवन प्राप्त किया, तब उसमें प्रजनन शक्ति आई। एक दिन उसके हृदय में वासना (रति) जगी और अनुकूल समय पर सबसे पहिले दो अणुओं का जन्म हुआ। यद्यपि कवि ने स्पष्ट नहीं लिखा है; पर 'हम दोनों का अस्तित्व रहा उस आरम्भिक आवर्त्तन सा' से यह ध्वनि निकलती है कि सृष्टि के अस्तित्व में आने के लिए रति के साथ ही काम की भी आवश्यकता पड़ती है। स्त्री के हृदय की वासना को 'रति' और पुरुष के हृदय की उद्दाम लालसा को 'काम' कहते हैं। अतः यह मान लेना चाहिये कि जब अव्यक्त प्रकृति का हृदय समागम के लिए व्याकुल हुआ, तब पुरुष (ईश्वर) के हृदय में भी आकर्षण उत्पन्न हुआ। उन दोनों के एक दूसरे की ओर खिंच कर निकट आने से अणु उत्पन्न हुए। फिर जैसे गृहस्थों के कुटुम्ब में बच्चे बढ़ते चले जाते हैं, उसी प्रकार शून्य में अणु भरते चले गये। ये अणु एक दूसरे के प्रति आकर्षित होकर मिलने लगे और फिर उनके एकत्र होने से एक दिन स्थूल सृष्टि बनी। धीरे-धीरे उस पर बनस्पति, कीड़े, मकोड़े, पशु, पक्षी, स्त्री-पुरुषों का जन्म हुआ। काम और रति के प्रभाव से पहले प्रणय-व्यापार प्रकृति-पुरुष, फिर देवता-अप्सराओं और अब नर-नारियों में चलता रहा है। प्रसाद ने प्रकृति की वस्तुओं में आकर्षण को स्वीकार करते हुए लिखा है—

भुज-लता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए,
जलनिधि का अंचल व्यजन बना
धरणी का, दो दो साथ हुए।

जीवन-दर्शन

विश्व के महान् मनीषियों में इस बात पर गहरा मतभेद है कि जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है ? एक ओर वे दार्शनिक हैं जो सृष्टि को मिथ्या, जीवन को निस्सार, सौन्दर्य को मायाजाल बतलाते हैं और संसार से विरक्त करना ही जिनका लक्ष्य रहता है, दूसरी ओर वे विचारक हैं जो जगत् को भगवान् की विभूति समझ कर, जीवन को विभु का दान मान कर, सौंन्दर्य को सृष्टिकर्त्ता का रहस्य स्वीकार कर प्रकृति के बिखरे वैभव का शासक बनने और उसके उपभोग का आदेश देते हैं। ऐसी दशा में निवृत्ति और प्रवृत्ति-मार्ग में से किसे स्वीकार करें, यह सामान्य बुद्धि के व्यक्ति के लिए एक पूरी समस्या है, क्योंकि दोनों वर्गों के चिंतकों के तर्क प्रायः एक-से ही प्रबल हैं। निष्पक्ष भाव से किसी एक ओर झुकते नहीं बनता।

महान् कवि महान् विचारक भी होते हैं। यही कारण है कि अपनी आर्द्र भावुकता का परिचय देने के साथ ही वे कलात्मक ढंग से अपने गंभीर विचारों का समावेश भी अपनी कृतियों में अनुकूल प्रसंग लाकर कर देते हैं। इस दृष्टि से विभिन्न विचार-धाराओं का अध्ययन करने के लिए, भारत के चार महान् कवियों के सम्पूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन साहित्य-प्रेमियों को मनोयोगपूर्वक करना चाहिये। ये साहित्यिक हैं—तुलसी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जयशङ्कर प्रसाद और महादेवी वर्मा। दुर्भाग्य की बात है कि समाजवाद के सिद्धान्तों का सशक्त सरस वाणी में प्रतिपादन करने वाला अभी कोई उच्च कोटि का कलाकार भारत में नहीं है जिसका नाम हम इनके साथ जोड़ सकते।

'प्रसाद' जी ने अनेक स्थलों पर दुःखवाद का खंडन किया है। उनके दृष्टिकोण को ठीक से समझने के लिए उनकी 'एक घूँट' नाटिका को ध्यान से पढ़ना चाहिए। उसमें उनके विचारों का सार यह है कि ब्रह्म के तीन गुण हैं सत्, चित्, आनन्द। सृष्टि की रचना करके वह अपने 'सत्' (Existence) का परिचय देता है। हमें चेतना प्रदान करके वह 'चित्,

की प्रतिष्ठा करता है। रहा 'आनन्द'। इसकी उपलब्धि सौन्दर्य के माध्यम से होती है। सौन्दर्य कहते ही उसे हैं जो आनन्द दे। आत्मा परमात्मा का अंश है और परमात्मा आनन्दमय है, अतः आनन्द की उपलब्धि के लिए आत्मा का व्याकुल रहना अत्यन्त स्वाभाविक है। आनन्द, बाह्य सौन्दर्य, चाहे वह नारी के शरीर और प्रकृति की वस्तुओं का हो और आंतरिक सौन्दर्य, जो उज्ज्वल गुणों में निहित रहता है, दोनों से मिलता है। इसलिये सौन्दर्य की ओर आकर्षित होना एक अत्यन्त सहज बात है, आत्मा की प्रेरणा है, परमात्मा की इच्छा है, कोई दुष्ट भावना नहीं। यहीं तक नहीं, आत्मा का सौन्दर्य से जितना विस्तृत परिचय होगा उतना ही उसका विकास होगा। दूसरा तर्क उनका यह है कि यदि जगत् की उत्पत्ति आनन्द-मय विभु से हुई है, तब इसमें दुःख कहाँ से आया? यह दुःख मनुष्य की कल्पना से निर्मित है, आरोपित है। उन्हीं के शब्दों में सुनिए :—

१—'विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम 'जीवन' है। जीवन का लक्ष्य 'सौंदर्य' है, क्योंकि आनन्दमयी प्रेरणा जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है स्वस्थ—अपने आत्म-भाव में निर्विशेष रूप से—रहने पर सफल हो सकती है।

२—मैं उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ जो यह कहते आए हैं कि संसार दुःखमय है और दुःख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है।

—एक घूँट

इन्हीं भावों की प्रतिध्वनि कामायनी में स्थान-स्थान पर मिलती है—

कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त —श्रद्धा
मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी
वह क्या सब छाया उलझन है? —काम

यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेम कला। —काम

आकर्षण होता है, यह तो बहुत से अनुमान कर सकते हैं और बहुत से अनुभव भी, पर क्यों होता है, इसका उत्तर सब नहीं दे पाते। ऐसा उत्तर जो हमारे अंतर में विश्वास का संपादन भी करे, पीछे 'एक घूँट' में प्रसाद ने दिया है। कामायनी में इस आकर्षण की व्यापकता से मनु का परिचय होता है—

पशु कि हो पाषाण सब में नृत्य का नव छंद
एक आलिंगन बुलाता सभी को सानंद।

प्रसाद जी कर्म के पक्षपाती हैं, वैराग्य के नहीं—'तप नहीं केवल जीवन सत्य।' उनका कहना है कि जब स्वयं भगवान कर्म में लीन हैं, जब सृष्टि का एक-एक कण अविराम साधना में निरत है, जब सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र एक क्षण का विश्राम नहीं लेते, तब मनुष्य अकर्मण्य हो जाय, यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? प्रसाद के मनु ने समाधि में लीन, शोक-क्रोध से उदासीन, जड़तामय हिमालय को जीवन का उपयुक्त आदर्श नहीं माना, गतिशील और ज्वलित सूर्य को समझा है—

देखे मैंने वे शैल शृंग।
जो अचल हिमानी से रंजित, उन्मुक्त उपेक्षा भरे तुङ्ग।
अपने जड़ गौरव के प्रतीक वसुधा का कर अभिमान भङ्ग।
अपनी समाधि में रहे सुखी, बह जाती हैं नदियाँ अबोध।
कुछ स्वेद-बिंदु उसके लेकर, वह स्तिमित नयन, गत शोक क्रोध।
स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा में वैसी चाहता नहीं इस जीवन की।
मैं तो अबाध गति मरुत सदृश हूँ चाह रहा अपने मन की।
जो चूम चला जाता अग जग प्रति पग में कंपन की तरंग।
वह ज्वलनशील गतिमय पतंग !

यह कवि सहानुभूति, अहिंसा, करुणा, उदारता, दया, ममता और प्रेम का प्रचारक होने पर भी दुर्बलता का उपदेश कहीं नहीं देता, यह ध्यान देने की बात है। उसकी सहिष्णुता, क्षमा आदि वृतियाँ शक्ति-शालियों की हैं, विवशों की नहीं—

और वह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान
शक्तिशाली हो, विजयी बनो
विश्व में गूँज रहा जय-गान। —श्रद्धा

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रंगस्थल है,
है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है। —काम

यह भ्रम न होना चाहिये कि प्रसाद जी क्योंकि जीवन में प्रेम का समर्थन करते हैं, अतः असंयम का भी। कामायनी एक संस्कृति के विनाश और दूसरी संस्कृति की प्रतिष्ठा का संधि-स्थल है। देवजाति नष्ट ही वासना की अति से हुई। यही कारण है कि श्रद्धा और कामदेव दोनों ने मनु को यह बात दुहरा-दुहरा कर समझायी है कि जीवन का शुद्ध विकास वासना और संयम के सामंजस्य से ही हो सकता है। न तपस्वी होने की आवश्यकता है और न विलासी—

देव असफलताओं का ध्वंस
प्रचुर उपकरण जुटाकर आज
पड़ा है बन मानव संपत्ति
पूर्ण हो मन का चेतन राज

—श्रद्धा

दोनों का समुचित प्रतिवर्त्तन
जीवन में शुद्ध विकास हुआ

प्रेरणा अधिक अब स्पष्ट हुई
जब विप्लव में पड़ ह्रास हुआ

—काम

पूर्ण समता की स्वीकृति ही नर-नारी का एकमात्र सच्चा पारस्परिक संबंध है। स्त्रियों को मनोविनोद की संकीर्ण दृष्टि से जो प्रायः देखा जाता है, उससे हमारी गरदन नीची होनी चाहिए। कामायनी में प्रसाद ने जीवन में नारी के मूल्य पर भी विचार किया है। इड़ा सर्ग में काम मनु को फटकारता हुआ कहता है—

तुम भूल गए पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की,
समरसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।
पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र,
सौन्दर्य जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र।
तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय-प्रकाश न ग्रहण किया,
हाँ, जलन वासना को जीवन भ्रम तम में पहला स्थान दिया।

सुख दुःख के संबंध में कवि का यह निर्णय है कि दुःख से विचलित न होकर उसके भीतर से शक्ति का सम्पादन करना चाहिये और सुख में मर्यादा और दूसरों की सुविधा का ध्यान रखना चाहिए। संसार परिवर्तनशील है यह सत्य है, पर जो पल हमें मिले हैं उन्हें मधुर बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। भविष्य की व्यर्थ चिंता से वर्तमान को मलिन बनाना उचित नहीं—

अपना हो या औरों का सुख
बढ़ा कि बस दुख बना वही,
कौन बिंदु है रुक जाने का
यह जैसे कुछ ज्ञात नहीं।
प्राणी निज भविष्य चिंता में
वर्तमान का सुख छोड़े,

दौड़ चला है बिखराता सा
अपने ही पथ पर रोड़े। —निर्वेद

मेरी दृष्टि से कामायनी एक विराट् सामंजस्य की सनातन गाथा है। उसमें हृदय और मस्तिष्क का सामंजस्य, वासना-संयम का सामंजस्य, दुःख सुख का सामंजस्य, परिवर्तन स्थिरता का सामंजस्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति का सामंजस्य, शासक-शासित के अधिकारों का सामंजस्य, नर-नारी के संबंध का सामंजस्य और सब से अधिक भेद और अभेद, द्वयता और इकाई का सामंजस्य है। सब कुछ करते हुए, सब कुछ सहते हुए इस चरम भाव को विस्मृत नहीं करना है—

चेतन समुद्र में जीवन
लहरों सा बिखर पड़ा है;
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना
निर्मित आकार खड़ा है।

इस ज्योत्स्ना के जलनिधि में
बुद्बुद् सा रूप बनाये,
नक्षत्र दिखाई देते
अपनी आभा चमकाये।

वैसे अभेद सागर में
प्राणों का सृष्टि-क्रम है;
सब में घुल-मिल कर रसमय
रहता यह भाव चरम है।

अपने दुख सुख से पुलकित
यह मूर्त्त विश्व सचराचर;
चित का विराट वपु 'मंगल'
यह 'सत्य' सतत चिर 'सुन्दर'।

पारमार्थिक सत्ता

'प्रसाद' ने सृष्टि का शासन करने वाली महाशक्ति को शिव के रूप में देखा है और प्रकृति में उनके स्थूल रूप का आभास दिया है। दूसरे ढंग पर यह भी कह सकते हैं कि भगवान् शिव के सम्बन्ध में हमारी जो धारणाएँ हैं, उन्हें प्रकृति में घटाया है। मनु के इड़ा पर अत्याचार करने को उद्यत होते ही रुद्र-हुङ्कार सुनाई पड़ती है और अचानक रुद्र-नयन खुल पड़ता है। मनु को दर्शन भी नृत्य-निरत नटराज (महादेव) के होते हैं। कवि ने हिमधवल गिरिराज के ऊपर उगते चन्द्र को और उसकी गोद में लहरें लेती मानसी को पुरातन-पुरुष (चन्द्रशेखर) और उनकी अर्द्धाङ्गिनी गौरी के रूप में देखा है। इससे बहुत पहिले 'कर्म' सर्ग में पूर्णचंद्र को भगवान शिव का गरल-पात्र माना है—

नील गरल से भरा हुआ यह
चन्द्र कपाल लिये हो,
इन्हीं निमीलित ताराओं में
कितनी शान्ति पिये हो।

अचल अनंत नील लहरों पर
बैठे आसन मारे,
देव ! कौन तुम झरते तन से
श्रमकण-से ये तारे !

छायावाद और रहस्यवाद

'छायावाद' और 'रहस्यवाद' शब्दों को लेकर हिन्दी में बहुत बड़ा भ्रम फैलाया गया है। उस वाग्जाल को यहाँ स्पष्ट करने का अवकाश नहीं है। बहुत सरल ढंग से हम कह सकते हैं कि प्रकृति में चेतना की अनुभूति छायावाद है और प्राणी का ब्रह्म के प्रति प्रणय-निवेदन रहस्यवाद। शब्दों का बाह्य-स्वरूप बहुधा भ्रान्ति उत्पादक होता है, अतः तात्पर्य ग्रहण करने के लिए पंक्तियों के भाव में ही अवगाहन करना चाहिए। शब्दों से यह प्रकट होने

पर भी कि प्रकृति नर अथवा नारी की भाँति स्पंदनशीला है, जब तक भाव से यह स्पष्ट न हो जाय कि वह प्राणी की अनुभूति से वास्तव में सम्पन्न है, तब तक किसी भी उद्धरण में छायावाद न होगा। उदाहरण के लिए पर्वतों का वर्णन करते समय प्रायः प्रत्येक कवि 'प्रसाद' की भाँति किसी न किसी ढंग से लिखता है 'गगन-चुंबिनी शैल-श्रेणियाँ।' यहाँ पर्वत की ऊँचाई का भान कराना ही मुख्य उद्देश्य है, शैल-श्रेणियों और गगन का प्रणय-व्यापार नहीं; अतः 'चुंबन' शब्द पढ़ते ही छायावाद बतला देना भावावेश अथवा बुद्धि के आवेश का परिचय देना है। इसी प्रकार प्रलयकालीन प्रकृति की भयंकरता का वर्णन करते समय कवि यदि लिख जाय 'लहरें क्षितिज चूमती उठतीं' तो थोड़े धैर्य के साथ निर्णय देना चाहिये। परन्तु अन्य प्रसंग में कहीं एकान्त शून्य में लहरों और क्षितिज की इस निर्द्वन्द्व कानाफूसी के काम पर यदि कवि की दृष्टि पड़ गई तो छायावाद की छाप लग जायगी—

ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे
जिस निर्जन सागर में लहरी; अंबर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे।

कामायनी पर आइए। कभी आपने किसी सुकुमारी को उठते देखा है? सुनते हैं उनके उठने में भी एक कला होती है। देखा है किसी को कोमल तन से हिम-धवल चादर को धीरे-धीरे खिसकाते, फिर अलसाते, शीतल जल के छींटे मारते, फिर धीरे-धीरे नेत्र खोलते, चैतन्य होते और अँगड़ाई लेकर फिर सो जाते? 'प्रसाद' की आँखों में थोड़ी देर को अपनी आँखें रखकर मौन हो जाइए। यह प्रकृति-बाला आज प्रथम बार कुछ 'संकुचित'-सी प्रतीत होती है। न जाने क्यों?

धीरे धीरे हिम-आच्छादन
हटने लगा धरातल से;
जगीं वनस्पतियाँ अलसाई
मुख धोतीं शीतल जल से।

नेत्र निमीलन करती मानो
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने,
जलधि लहरियों की अँगड़ाई
बार-बार जाती सोने ।

सिंधु-सेज पर धरा-वधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी,
प्रलय-निशा की हलचल-स्मृति में
मान किये सी ऐंठी सी ।

ब्रह्म के प्रति आत्म-निवेदन की भूमि बहुत विस्तृत है जिसमें दर्शन, आकर्षण, विरह, अभिसार, छेड़छाड़, मिलन आदि की बहुत-सी बातें सम्मिलित हैं। इनकी चर्चा महादेवी जी के काव्य को लेकर हम अन्यत्र करेंगे। ब्रह्म की सत्ता के आभास का एक उदाहरण कामायनी के आशा सर्ग से लीजिए—

महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान ।
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते से संधान ?

छिप जाते हैं और निकलते,
आकर्षण में खिंचे हुए !
तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए !

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम !
यह मैं कैसे कह सकता ।
कैसे हो ! क्या हो ! इसका तो
भार विचार न सह सकता ।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

'सत्यं, शिवं सुन्दरम्' आदर्श वाक्य तो प्रत्येक कलाकार का रहता है; पर इन तथ्यों का उचित समन्वय कामायनी में ही हुआ है। कामायनी में सृष्टि-व्यापार को बहुत व्यापक दृष्टि से देखा गया है। कलाकार का सत्य न वैज्ञानिक का शुष्क सत्य है और न दार्शनिक का सूक्ष्म सत्य। परिवर्तनशील जगत्, नाशवान् जगत्, क्या सत्य है? श्रद्धा उत्तर देती है—जिसे तुम 'परिवर्तन' कहते हो वह 'नित्य नूतनता' है। दुःखमय विश्व क्या 'शिव' हो सकता है? श्रद्धा कहती है—दुःख ईश का वरदान है। दुःख के अंतर में सुख उसी प्रकार निवास करता है, जैसे काली रजनी के गर्भ में प्रभात या फिर नीली लहरों में द्युतिमयी मणियाँ। और इस सृष्टि की सुन्दरता के प्रति हमारा क्या दृष्टिकोण होना चाहिए? इस संबंध में प्रमुख पात्रों की घोषणा सुनिए :—

इड़ा—यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्यभरी शोधकविहीन।
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन।
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता।

श्रद्धा—कर रही लीलामय आनंद
महा चिति सजग हुई सी व्यक्त
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त।

मनु—आकर्षण से भरा विश्व यह
केवल भोग्य हमारा।

वर्णन-पद्धति

वैभव, विलास, सौंदर्य, विरह, मृत्यु, प्रलय, प्रकृति और विभिन्न वृत्तियों के कलात्मक वर्णन के लिये 'प्रसाद' की कितनी प्रशंसा की जाय! भाव और भाव-प्रदर्शन का अपूर्व सामञ्जस्य जो किसी भी महान् कलाकार की परख है, 'प्रसाद' में पूर्ण रूप से मिलता है। एक शब्द या वाक्यांश में ही

कहीं-कहीं तो मूर्तियाँ खड़ी कर दी हैं जैसे इड़ा को 'चेतनते', चिंता को 'अभाव की चपल बालिके', मृत्यु को 'चिरनिद्रा', आशा को 'प्राण-समीर', लज्जा को 'हृदय की परवशता', सत्य को 'मेधा के क्रीड़ा-पंजर का पाला हुआ सुआ' और श्रद्धा के रूप को 'ज्योत्स्ना-निर्झर' किस सहज-भाव से कहा है !

'प्रसाद' के नाटकों की क्लिष्ट उक्तियों, उनमें आए गीतों तथा उनके काव्य-ग्रन्थों—विशेषकर 'आँसू' और 'कामायनी' को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ तक भाषा और [illegible] का सम्बन्ध है, वहाँ 'प्रसाद' का अपना एक स्टैंडर्ड था जिससे नीचे वे उतरना न चाहते थे। 'प्रसाद' रस-दान से पहिले हमारी पात्रता परखते हैं। अ-पात्र को निर्दयता से वापिस कर देते हैं। जिसने यह लिखा है कि 'कामायनी कालान्तार में एक लोक-प्रिय रचना होगी' उसने सोच कर नहीं लिखा। मेरा अपना विश्वास है कि 'कामायनी' को चाहे और कुछ गौरव प्राप्त हो, पर लोक-प्रियता का यश उस अर्थ में उसे न मिलेगा जिस अर्थ में तुलसी, सूर, मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचन्द को मिला है। पर लोक-प्रियता ही तो उत्तमता की एकमात्र कसौटी नहीं है। रोटी और हीरे में जो अन्तर है वही अन्तर कुछ कलाकारों और 'प्रसाद' में है। जो रोटी भी है और हीरा भी ऐसी तो एक मात्र रचना हिंदी में 'रामचरितमानस' ही है। 'कामायनी' साहित्यिकों की प्रिय-वस्तु रहेगी। लोक-दृष्टि से परखें तो 'प्रसाद' में 'प्रसाद' गुण की कमी है।

विचार-गांभीर्य और नवीन कल्पनाओं को प्रस्तुत करने के कारण तो 'प्रसाद' की कविता साहित्य के विद्यार्थियों को दुरूह प्रतीत होती ही है, पर उनसे छिटक भागने का मुख्य कारण है मूर्त्त उपमानों के स्थान पर प्रचुर परिमाण में कवि का अमूर्त्त अप्रस्तुतों को ग्रहण करना जैसे—

(१) नीरवता सी शिला

(२) मृत्यु सदृश शीतल निराश

(३) विश्व-कल्पना सा ऊँचा (हिमालय)

(४) जड़ता सी शांत

(५) कामायनी पड़ी थी अपना
कोमल चर्म बिछा के,
श्रम मानो विश्राम कर रहा
मृदु आलस को पाके।

थोड़ी देर के लिए केशों पर अन्य कवियों की कल्पनायें लीजिए—

(१) चिकुर निकर तम सम। —विद्यापति।

(२) लहरन भरे भुअङ्ग बैसारे। —जायसी।

(३) घन-पटल से केश। —मैथिलीशरण।

(४) कटि के नीचे चिकुर जाल में
उलझ रहा था बायाँ हाथ।
खेल रहा हो ज्यों लहरों से
लोल कमल भौंरों के साथ। —गुप्त जी।

इन चारों उदाहरणों में प्रस्तुत भी मूर्त्त हैं और अप्रस्तुत भी; अतः भाव सहज-गम्य है। जैसे बालों को हम देख पाते हैं, उसी प्रकार अंधकार, मेघ, सर्प और भौंरे भी हमारी दृष्टि के सामने घूमते रहते हैं। उपमेय और उपमान का 'वर्ण' अथवा 'आकार' साम्य जोड़ने में देर नहीं लगती। पर 'प्रसाद' अलकों को कहीं-कहीं 'तर्क जाल' भी कहेंगे—बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल— इस 'तर्क-जाल' के साथ यह 'भाव'-साम्य स्थापित करने के लिये कि जैसे तर्क-जाल में फँसकर बुद्धि की मुक्ति कठिन है, उसी प्रकार बाल-जाल में फँसकर मन न लौट सकेगा, कुछ पलों की देर लगती है। जिसमें इतना धैर्य नहीं है, वह 'प्रसाद' को रूखा, दुरूह और न जाने क्या-क्या कहता है?

कामायनी में चित्रों की भरमार है। 'प्रसाद' जी भावनाओं और विचारों को प्रकट करते समय उनकी पृष्ठभूमि में जीवन या प्रकृति के किसी दृश्य की कल्पना करते हैं। अतः पाठकों की दृष्टि प्रस्तुत वर्णन को भेदती हुई जब तक उन दृश्यों पर न टिकेगी, तब तक न तो वे 'प्रसाद' की बात ही पूर्णरूप से समझ पावेंगे और न कवि के सूक्ष्म काव्य कौशल और उसकी भावुकता

से अवगत होंगे। 'छायावाद' के प्रसंग में पीछे देख चुके हैं कि यदि उस उदाहरण में से किसी कोमलांगी युवती के सोकर उठने के दृश्य को खींच लें, तो उसका आधा सौंदर्य नष्ट हो जाय। मनु के हृदय में उदित होने वाली 'आशा' के स्वरूप को देखिए।

यह कितनी स्पृहणीय बन गई
मधुर जागरण सी छविमान,
स्मिति की लहरों सी उठती है
नाच रही ज्यों मधुमय तान। —आशा

जीवन में आशा न हो तो जीवन भार हो जाय; अतः वह अत्यन्त स्पृहणीय है। इतनी सी बात तो और भी कोई कह सकता था। पर आगे चल कर अनुभूति-संबंधी उलझन खड़ी होती है। आशा के उदित होते ही कैसा-कैसा लग सकता है, यह दूसरों को समझाना सरल काम नहीं। कवि कहता है आशा के जगने (उदित होने) में वैसी ही रम्यता है जैसी रम्यता मनोरम उषाकाल में किसी अनुपम सुन्दरी के सुकुमार पलकों को खोलने के दृश्य में। उस दृश्य के देखने से जैसा सुख द्रष्टा को प्राप्त होता है वैसा ही सुख आशा का अनुभव करने वाले हृदय को मिलता है। पर आशा उदित होकर ही नहीं रह जाती, वह उठती बढ़ती या उमड़ती है। इस स्थिति को प्रत्यक्ष करने के लिए वह दूसरा गोचर दृश्य सामने लाता है—देखो, तुमने कभी किसी के मधुर अधरों पर मंद मुस्कान की लहरियों को धीरे-धीरे उठते देखा है। आशा की तरंगें भी भावपूर्ण हृदय में उसी सुकुमारता से क्रीड़ा करती हैं। उस समय जिस गुदगुदी का अनुभव तुम्हारा हृदय करता है, वैसे ही आह्लाद का अनुभव आशा के विकसित होने पर होता है। और तब वह स्थिति भी आती है जब आशा समस्त अंतःकरण में घुमड़ने लगती है। उस मधुरता का तो कहना ही क्या? पर कवि वहाँ भी मूक नहीं है। इंगित करता है—इस स्थिति को गूँजती हुई मीठी तान के श्रवण-सुख में डूब कर समझ लो।

यहाँ कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो यह कि कवि ने एक

अमूर्त मनोविकार को परिचित दृश्यों द्वारा समझाया। दूसरे जिस कोमलता, रम्यता और हर्ष की अवस्थिति उस मनोविकार में है वैसी ही कोमलता, रम्यता और प्रसन्नता उपमानों में बनी रहने दी। तीसरी बात यह है कि वर्णन को एक व्यवस्था दी, जैसे पहले आशा का 'होना' फिर 'जगना' फिर 'उठना' और 'नृत्य करना' (अंतःकरण में आवेश के साथ घुमड़ना)। पर 'प्रसाद' की कला को आपने ठीक से नहीं परखा, यदि उस चित्र पर आपने ध्यान नहीं दिया जो इस वर्णन का प्राण है। यहाँ आशा एक रमणी है। पहली पंक्ति में वह सोती दिखाई गई है, दूसरी में जगती है, तीसरी में उठती है और चौथी में मस्ती में भरकर नृत्य करने लगती है। सच बतलाइये, यदि चुप-चुप यह सब कुछ आप को देखने को मिल जाया करे, तो कैसा लगेगा?

एक और चित्र देखिए। 'प्रसाद' ने एक स्थल पर समीर को 'अणुओं का निश्वास' कहा है। अणु आकाश में भ्रमण कर रहे हैं, समीर अंतरिक्ष में बहता है। इस स्थापना में अविश्वास की कोई बात नहीं। पर पूरा व्यापार कितना रसपूर्ण है, इस पर कम व्यक्तियों का ध्यान जाता है—

उन नृत्य शिथिल निश्वासों की
कितनी है मोहमयी माया,
जिनसे समीर छनता छनता
बनता है प्राणों की छाया। —काम

कल्पना कीजिए किसी सभा में कोई सुन्दरी नर्तकी नृत्य कर रही है। नृत्य करते-करते वह थक चली है और शिथिल होकर किसी दर्शक के पास रुक गई है। सुवासित निश्वास निस्सृत होकर उस लुब्ध प्रेमी के अंग को स्पर्श करते हैं। कितना सौभाग्यशाली समझता होगा वह अपने को! कितनी शीतल होती होगी उसकी आत्मा!

समीर के परस से जो हमारे प्राण पुलकित हो उठते हैं उसका कारण भी यह है कि वह किसी (नृत्य-निरत अणु) के शीतल सुरभित निश्वासों का सार है!

ज्योत्स्ना-चर्चित यामिनी में मनु के मुख से अपने लिए प्रेम की मधुर विह्वल बातें सुनकर श्रद्धा को एक प्रकार का सुख मिला और वह सोचने लगी कि जो व्यक्ति मेरी अनुरागदृष्टि प्राप्त करने के लिए इतना छटपटा रहा है, उसे आत्मसमर्पण क्यों न कर दूँ ? इतने में 'लज्जा' से उसका परिचय होता है—

वैसे ही माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुये,
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए।

'अधरों पर उँगली रखना' स्त्रियों की एक मुद्रा है जो बड़ी प्यारी लगती है। 'आँखों में सरसता के पानी' में जो 'पानी' शब्द का प्रयोग है उसका न अनुवाद हो सकता है और न अर्थ। इस रम्यता की भावज्ञों द्वारा केवल अनुभूति ही सम्भव है। परन्तु यहाँ बाह्य आकृति-चित्रण से कहीं अधिक गहरा कवि का आशय है। वासना की प्रेरणा से नारी जब पुरुष को अपने शरीर को सौंपना चाहती है, तब उसके अन्तर कीस्वाभाविक लज्जा उसे एक बार अवश्य टोकती है। और बिना बोले ओठों पर उँगली रखकर वर्जन भी किया जाता है। उसी अर्थ में 'अधरों पर उँगली धरे हुए' आया है। श्रद्धा जैसे ही शरीर समर्पण की बात सोचती है, वैसे ही लज्जा एक बार टोकती है—हैं ! रुको, यह क्या करने जा रही हो तुम ?

इसे कहते हैं सजीव चित्र अंकित करना ! 'मनोविज्ञान की ट्रीटाइज़' में क्या ऐसे ही चित्र रहते हैं भला ? इसी प्रसंग का एक चित्र और भी—

किरनों का रज्जु समेट लिया
जिसका अवलम्बन ले चढ़ती,
रस के निर्झर में धँस कर मैं
आनन्द शिखर के प्रति बढ़ती।

इस छन्द में इस प्रकार का दृश्य निहित है कि एक ऊँचा पर्वत है,

उससे झरना फूट रहा है, जिसका जल चारों ओर फैल गया है। इस जल के परे एक युवती खड़ी है। वह पर्वत की चोटी पर पहुँचना चाहती है, पर तैरना नहीं जानती। देखती है कि पर्वत के शिखर से लेकर जल में होती हुई उसके चरणों तक एक डोर आई है। उसे बड़ी प्रसन्नता होती है और आशा करती है अब उसकी साध पूरी हो जायगी, पर रस्सी को पकड़ आगे बढ़ने की वह ज्यों ही आकांक्षा करती है कि गिरिशिखर पर अधिष्ठित कोई अन्य रमणी-मूर्ति चट से उस डोर को खींच कर उस युवती को निराश कर देती है। रूपक को हटा कर देखें तो यह पर्वत आनन्द का है, यह निर्झर प्रेम का है, यह डोर साहस की है, वह पथिक युवती श्रद्धा है, और डोर को खींचने वाली रमणी-मूर्ति लज्ला! पर सोचने की बात यह है कि कितना व्यापक और गहन व्यापार कवि ने एक ही छन्द की रेखा-सीमा में समेट लिया है।

'प्रसाद' की कविता को समझने के लिए उनके प्रतीकों के अर्थ को ठीक से समझने की बड़ी आवश्यकता है। काम सर्ग के प्रारम्भ के इस भाव-प्रवण विस्तृत वर्णन को पढ़िए—

मधुमय वसंत जीवन वन के
वह अंतरिक्ष की लहरों में,
कब आये थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में?

क्या तुम्हें देख कर आते यों,
मतवाली कोयल बोली थी!
उस नीरवता में अलसाई
कलियों ने आँखें खोली थीं!

जब लीला से तुम सीख रहे
कोरक कोने में लुक रहना,
तब शिथिल सुरभि से धरणी में
बिछलन न हुई थी? सच कहना।

जब लिखते थे तुम सरस हँसी
अपनी, फूलों के अंचल में,
अपना कलकंठ मिलाते थे
झरनों के कोमल कल-कल में।
निश्चिंत आह! वह था कितना
उल्लास, काकली के स्वर में!
आनन्द प्रतिध्वनि गूँज रही
जीवन दिगन्त के अम्बर में।

इसके प्रारंभ और अंत में यदि 'जीवन वन' और 'जीवन दिगंत' शब्दों का प्रयोग न होता, तो वसंत के वर्णन का भ्रम होता। पर इस एक 'जीवन' शब्द ने पूरा आशय ही बदल दिया। वसंत का वर्णन न होकर यह 'जीवन के मधुमय वसंत, या 'यौवन' का वर्णन हुआ। इस वर्णन में कवि की ओर से हमें बहुत कम सहायता मिलती है। केवल इतना पता चलता है कि वन के लिए वह 'जीवन' शब्द लाया है। आगे चुप है। वैसी दशा में शेष प्रतीकों या उपमानों का अर्थ हमें अपनी ओर से लगाना पड़ता है। सुविधा के लिए इन छंदों में प्रयुक्त प्राकृतिक प्रतीकों का भाव हम नीचे दे रहे हैं—

मधुमय वसंत	मधुर यौवन
अंतरिक्ष	हृदय
लहरों	भावों
रजनी के	किशोरावस्था की
पिछले पहर	समाप्ति
कोयल	मन
कलियों	वृत्तियों
कोरक (कली)	नव युवतियाँ
शिथिल सुरभि	मस्त उच्छ्वास
धरणी	पृथ्वी के प्राणियों

फूलों के अंचल में हँसी	बालाओं के शरीर में लावण्य
झरनों की कल-कल	मन की भावनाओं
काकुली के स्वर	हृदय की मधुर वाणी

इस प्रकार के प्रतीकों का अर्थ बहुत कुछ प्रसंग पर निर्भर करता है; अतः कामायनी में जहाँ कहीं इस पद्धति का अनुसरण 'प्रसाद' ने किया हो, वहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए।

'प्रसाद' जी के मस्तिष्क की एक विशेषता है नारी को कभी-कभी पुल्लिंग में सम्बोधन करना। उर्दू में यह अत्यन्त सामान्य प्रवृत्ति है जैसे—

उनके आने से जो
आजाती है मुँह पर रौनक़
वे समझते हैं कि
बीमार का हाल अच्छा है।

पर हिन्दी के कवियों में यह लत 'प्रसाद' को ही थी। 'आँसू' में भी इसका आभाव मिलता है। 'कामायनी' में भी श्रद्धा को मनु पुल्लिंग में संबोधन करते हैं। इसका इसके अतिरिक्त और क्या उत्तर हो सकता है कि कभी-कभी इस प्रकार बोलना उन्हें संभवतः प्यारा लगता हो। लिंग और वचन के साथ भी वे पूरी स्वतन्त्रता लेते थे। 'कामायनी' में आधे दर्जन से ऊपर ऐसे स्थल हैं जहाँ लिंग और वचन की गड़बड़ी मिलेगी। पता नहीं इस विषय में वे कवि-स्वातन्त्र्य का प्रयोग करते थे या 'पंत' जी के समान उनकी दृष्टि में भी शब्दों की 'श्री सुकुमारता' आदि बिखर जाती थीं।

'कामायनी' शताब्दियों में कभी-कभी उत्पन्न होने वाले एक प्रतिभा-शाली कवि की प्रौढ़तम रचना है और चिंता, आशा, प्रेम, ईर्ष्या, क्षमा, आनन्द आदि सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक भावनाओं को समेटने के कारण गंधवह की भाँति इसका रस नित्य-नवीन रहेगा।

———

साकेत

यह बात सुनते-सुनते आप पुराने हो गए होंगे कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने प्राचीन काव्य की कुछ उपेक्षिताओं को स्मरण किया, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उस आकांक्षा को हिन्दी वालों के सामने रखा और हिन्दी कवियों में से श्री मैथिलीशरण गुप्त ने एक दिन यह हर्ष-सूचना दी—

लक्ष्मण के शर की अनी बनाकर टाँकी,
मैंने विरहिन की एक मूर्ति है आँकी;
आँसू नयनों में, हँसी बदन पर बाँकी,
काँटे समेटती, फूल छींटती झाँकी,

जब पाठकों ने इस झाँकी के दर्शन किए, तब उन्हें पता चला कि गुप्त जी ने केवल उर्मिला की मूर्ति ही अंकित नहीं की, कैकेयी का उद्धार भी किया है, मांडवी के हृदय-कमल को खोल दिखाया है, श्रुतिकीर्ति की मूकता भी भंग की है। केशव के रामचंद्र जी से यदि मैथिलीशरण की भेंट हो जाती तो हनुमान की भाँति उनकी पीठ थपथपाते हुए वे कहतेः गए एक काज कौं अनेक करि आये हो।

कभी-कभी लेखनी कवि के वश में नहीं रहती इसका प्रत्यक्ष प्रमाण साकेत है। उर्मिला का विरह-वर्णन ही यदि गुप्त जी का उद्देश्य रहा हो, तो हम इस बात को बिना किसी प्रतिवाद-भय के कहना चाहते हैं, कि वे लक्ष्य से चूक गए हैं। मैथिलीशरण जी को साकेत में यदि कहीं सफलता नहीं मिली तो विरह-वर्णन में। मिलन का वर्णन वे सुंदर कर सकते हैं। प्रथम और अंतिम सर्ग में उर्मिला-लक्ष्मण मिलन के दोनों स्थल अत्यन्त सजीव हैं। नवम सर्ग में काव्य ने उनका साथ छोड़ दिया है जिसकी पूर्त्ति उन्होंने चमत्कार के द्वारा की है। यों अस्सी पृष्ठों में चार-छः स्थल सुन्दर बन ही पड़े हैं। साकेत के 'निवेदन' में उन्होंने कहा है "नवम सर्ग में तब भी

कुछ शेष रह गया था और मेरी भावना के अनुसार आज भी यह अधूरा है।" इसके विपरीत हमारा निवेदन है कि यदि नवम सर्ग को वे आधा कर दें और विरह से असंबंधित रूखे प्रसंगों को निकाल दें तो अनुपात (Proportion) और रस दोनों दृष्टियों से वह सर्ग श्रेष्ठ हो जाय। इससे पूरे साकेत का ही कुछ और स्वरूप हो जायगा। उर्मिला-लक्ष्मण को लेकर वे चले हैं; पर उनकी राम-भावना के कारण सीता-राम के रूप का रंग यदि अधिक गहरा नहीं तो कम गहरा भी नहीं हैं। उर्मिला-विरह की कथा कहते समय उन्हें यह भी ध्यान आया कि चलो लगते हाथ पूरे मानस की कथा ही कह डालें तो क्या बुरा है। इससे उन्होंने अपनी कथा को यद्यपि अयोध्याकांड से ही प्रारम्भ किया, पर कोई कांड ऐसा नहीं है जो कहीं अनायास और कहीं बरवश न घुस आया हो। ग्रन्थ का नाम साकेत है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि घटनाएँ साकेत (अयोध्या) में घटी हैं। कवि को विवश होकर चित्र-कूट जाना पड़ता है—'सम्प्रति साकेत-समाज वहीं है सारा।' नहीं तो स्थान परिवर्तित न हो इसके लिए गुप्त जी ने साकेत में ही सञ्जीवनी-जड़ी मँगा दी, साकेत में ही शत्रुघ्न के मुख से राम की वन-यात्रा की कथा कहला दी और साकेत में ही वशिष्ठ की योग-शक्ति से लंङ्का में राम की विजय दिखला दी। प्रथम आठ सर्गों में अयोध्याकांड की कथा है। दशम सर्ग में उर्मिला सरयू से 'बालकांड' की कथा दुहराती है। एकादश सर्ग में 'अरण्यकांड' की आधी कथा शत्रुघ्न सुनाते हैं, बाकी आधी और साथ ही 'किष्किधा', 'सुन्दर' और थोड़ी 'लङ्का' काण्डों की कथा हनुमान सुनाते हैं। लङ्का काण्ड की जो कथा रह गई है उसे द्वादश सर्ग में वशिष्ठ अपने जादू से क्षितिज-पट पर दिखा देते हैं। रह गया उत्तरकांड। वह एकादश सर्ग में उतर आया है। शत्रुघ्न के मुख से साकेत का वैभव-वर्णन एक प्रकार से राम-राज्य का वर्णन है। तात्पर्य यह है कि उर्मिला के प्रति कवियों ने जो उपेक्षा दिखलाई, उसे मैथिलीशरण जी दूर करना चाहते थे। राम को वे ईश्वर मानते हैं। उनके प्रति भी पूर्ण भावोद्रेक प्रकट करना चाहते थे। और साकेत में ही रामचरित की पूरी कथा भी कहना चाहते थे। परिणाम यह हुआ कि न तो उर्मिला शीर्षासन पर प्रतिष्ठित हो पाई और न साकेत निर्दोष प्रबन्ध-काव्य बन पाया।

लक्ष्मण और उर्मिला इस प्रबन्ध-काव्य के नायक-नायिका नहीं हैं। गुप्त जी का प्रयत्न तो यही रहा है कि इस युग्म को अपने काव्य के नायक-नायिका बनावें, पर उनके आराध्य राम इसके नायक बन बैठे हैं। उर्मिला ने यद्यपि साकेत के बहुत पृष्ठ घेरे हैं—आरम्भ, मध्य, अन्त में सभी स्थलों पर वह आ धमकती है; पर इससे क्या होता है? उसे केवल मुख्य पात्री का पद उसी प्रकार से दिया जा सकता है, जिस प्रकार चन्द्रगुप्त नाटक में चाणक्य को। अतः साकेत के 'कार्य' के लिये पहिले 'उर्मिला के विरह-वर्णन' को निश्चित करने का विचार करें और फिर प्रश्न-वाचक चिह्न लगाते फिरें, तो क्या लाभ? साकेत का कार्य है 'आर्य-सभ्यता की प्रतिष्ठा।' असंदिग्ध शब्दों में मैथिलीशरण जी ने अपने इस दृष्टिकोण को व्यक्त किया है। संदेह न रह जाय; अतः बार-बार इस बात को स्पष्ट करते चले हैं। राम को वन भेजते समय जब दशरथ विह्वल होते हैं, तब वे विपद्-भंजन कहते हैं—

मुझे था आप ही बाहर विचरना,
धरा का धर्म-भय था दूर करना।

साकेत से बिदा होते समय गुरु वशिष्ठ भी इसका स्मरण दिलाते हैं—

हरो भूमि का भार भाग्य से लभ्य तुम,
करो आर्य-सम वन्यचरों को सभ्य तुम।

चित्रकूट-प्रसंग में यह उद्देश्य और भी स्पष्ट हो गया है। गान-रत सीता 'भोली कोल-किरात-भिल्ल-बालाओं' को अपनी कल्पना-पटी पर लाती हुई यही तो कहती हैं,—'लो, मेरा नागर 'भाव-भेंट' जों लाया।' वहीं राम और सीता के वार्त्तालाप का मुख्य-विषय भी यही है। रावण की बर्बरता से दबी यज्ञ-प्रथा को फिर प्रचलित देखने और वेद-वाणी को फिर गूँजते सुनने का जो स्वप्न राम देखते हैं, उससे ऐसा प्रतीत होता है मानो राम-रावण का युद्ध दो सभ्यताओं का युद्ध है—आर्य सभ्यता और अनार्य-सभ्यता का संघर्ष है—

मैं दूँगा अब आर्यत्व उन्हें निज कर से

यहीं तक नहीं, एकादश सर्ग में शत्रुघ्न राम के कार्यों का विवरण देते-देते घूम-फिर कर इस बात पर आते हैं—

जय-जयकार किया मुनियों ने, दस्युराज यों ध्वस्त हुआ।
आर्य-सभ्यता हुई, प्रतिष्ठित, आर्य-धर्म आश्वस्त हुआ॥

और साकेत के अन्त में विरहिणी उर्मिला जब अपने खोये यौवन-धन का स्मरण करती हुई विकल होती है, लक्ष्मण उस लघु-हानि को एक महान-लाभ के समुद्र में, उस समुद्र में जिसके लिये इस दम्पति ने स्वयं इतना ताप सहा, डुबाते हुये अत्यन्त हर्ष-पूर्वक घोषित करते हैं—

धरा-धाम को राम-राज्य की जय गाने दो।

साकेत को महाकाव्य कहने का जो भ्रम हुआ है उसका मुख्य कारण यह है कि उसमें साहित्यदर्पणकार के अनुसार महाकाव्य के बहुत से लक्षणों की पूर्ति का प्रयत्न किया गया है। प्रारम्भ में गणेश को लेकर मंगलाचरण है और सरस्वती को लेकर वन्दना। कथा लोक-प्रसिद्ध नायक की है ही जो सद्वंशजात क्षत्रिय है। आठ सर्गों के स्थान पर बारह सर्ग हैं। नवम सर्ग को छोड़कर प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग है और सर्ग के अन्त में छन्द को बदल दिया है। प्रधान रस शृंगार (विप्रलंभ) है। वीर, करुण आदि आये हैं, पर गौण-रूप से। धर्म, अर्थ, काम मोक्ष में से धर्म की सिद्धि होती है। वर्णनों में नगर (साकेत), प्रेम, यात्रा, प्रभात, संध्या, रजनी, सरिता, (सरयू , गंगा) पर्वत (चित्रकूट), षट्-ऋतुओं, मृगया, वन, रण-सज्जा, युद्ध आदि के वर्णन हैं। इसके अतिरिक्त कला, देशानुराग, दाम्पत्य-सम्बन्ध, जड़वाद (Materialism) राजा-प्रजा के सम्बन्ध, उपयोगितावाद, नारी की महत्ता आदि पर भी व्याख्यान हैं। यह सब होते हुए भी साकेत महाकाव्य नहीं है, क्योंकि ये सारी बातें एकदम बाहरी (Formalities) हैं। जिसका प्रबन्ध ही खंडित है वह महाकाव्य कैसे हो जायगा? महाकाव्य के लिये चार बातों के निर्वाह की अपूर्व क्षमता कवि में होनी चाहिये। ये चार बातें हैं— प्रबन्धबद्ध कथानक, चरित्र-चित्रण, दृश्य-वर्णन और रस। कथानक पहिली

आवश्यकता है। और संक्षेप में कहना चाहें तो महाकाव्य में कथानक विराट हो, साथ ही काव्यत्व महान् हो। प्रयत्नज होते हुये भी गुप्त जी की काव्यक्षमता में कोई संदेह नहीं कर सकता। और कथानक भी उनके सामने जैसा फैला पड़ा था, उसकी महानता में भी अविश्वास का कोई कारण नहीं था; परन्तु उस कथानक का वे ठीक से उपयोग नहीं कर सके। एकादश और द्वादश सर्ग में जब उन्होंने हृदय खोल कर राम के वन-पर्यटन, राम-रावण-युद्ध और रण-शय्या आदि के वर्णन किये हैं तब उन्हें स्वतन्त्र-वर्णन का स्वरूप देने में क्या हानि थी? थोड़े से उलट-फेर के साथ ही प्रबन्ध के अक्षुण्ण रहने से अब जो साकेत में ही सारी घटनाओं के विवरण अथवा दर्शन की अस्वाभाविकता आई, वह न आ पाती और निश्चय ही साकेत को महाकाव्य का रूप भी प्राप्त हो जाता। स्थान-ऐक्य का दोष रहता। वह दोष तो अब भी है। घटनाओं का स्थल जैसे साकेत है वैसे ही बन। 'सम्प्रति साकेत-समाज वहीं है सारा' में साकेत शब्द आने से साकेत में घटनायें घटने लगीं? यह तर्क है अथवा भावुकता? उर्मिला नायिका न रहती। वह तो अब भी नहीं है।

अन्तिम दो सर्गों में राम की वन-यात्रा की घटनाओं का तीन व्यक्तियों द्वारा उल्लेख है। शत्रुघ्न ने किसी व्यवसायी के मुख की बातें जो भरत के सामने दुहराई हैं, वे और भी लम्बी होतीं तब भी अस्वाभाविकता न आती, क्योंकि वे लोग फ़ुरसत में हैं जितनी देर चाहें बातें कर सकते हैं। परन्तु हनुमान के पास इतना समय नहीं है। उन्होंने तीन सौ लम्बी पंक्तियों में जो विवरण दिया है, वह क्या तीस पंक्तियों में नहीं समेटा जा सकता था? जैसे-जैसे वे बढ़ते चले जाते हैं, वैसे-वैसे लक्ष्मण का ध्यान करके हमारा धड़कता हुआ वक्ष कहता है, "जल्दी कहो भाई, जल्दी......" इसका नाम 'थोड़े में वृत्तांत' है? कारण यह है कि गुप्त जी 'बीज तुल्य वृत्त' का बहाना लेते है, आकांक्षा है घटनाओं और चरित्रों की जड़ों, शाखाओं, पत्तों और फलों सब को प्रदर्शित करने की। हनुमान ने बीस पंक्तियों में विभीषण का विवरण दिया है। दो पंक्तियों में यह काम हो सकता था। पर इससे उसका चरित्र-चित्रण होने से रह जाता! साकेत का कवि बहुत लोभी कवि है। यदि लोभ

अधिक था तो अञ्चल फैलाना चाहिये था, यदि अञ्चल छोटा था तब लोभ कम करना चाहिये था।

इस बात को हम फिर दुहराना चाहते हैं कि मैथिलीशरण जी की अनिच्छा (हार्दिक नहीं, काव्यगत) होने पर भी राम ही साकेत के नायक हैं। सभी सर्ग उनकी गाथा को लेकर चलते हैं। प्रथम, नवम, दशम और द्वादश का अंतिम अंश बाह्य दृष्टि से उनके चरित्र से असंबंधित प्रतीत होंगे। प्रथम सर्ग में उर्मिला-लक्ष्मण के हास-परिहास के बीच मुख्य बात है राम की अभिषेक-चर्चा—'कल प्रिये निज आर्य का अभिषेक है।' इसी की प्रसन्नता में वे दोनों और दिनों से कुछ सबेरे उठे थे। चित्रांकन भी अभिषेक-प्रसंग को लेकर चला है। नवम सर्ग में विरह की सारी भावनायें उर्मिला की गौरव-भावना के अधीन हैं। यह गौरव-भावना है उसके पति का राम-चरणानुरागी होना। दशम में विवाह की गाथा है। उर्मिला का लक्ष्मण से विवाह भी राम-सीता-परिणय पर अवलंबित था। इसी से उसके शंकित हृदय ने एक बार सोचा-'प्रभु चाप जो न चढ़ा सके?' अंतिम सर्ग के उर्मिला-लक्ष्मण मिलन की आनन्द-सरिता इस उल्लास-सिंधु की ओर उन्मुख है ही—'धरा-धाम को राम-राज्य की जय गाने दो।' इससे थोड़े पहिले ही लक्ष्य-प्राप्ति हो गई है—

देवर-भाभी मिले, मिले सब भाई भाई,
बरसे भू पर फूल, जयध्वनि ऊपर छाई।

प्राचीन कथानक के घट में भी गुप्त जी ने नवीन कल्पनाओं का अमृत भरा है जिसके पान में निश्चय ही एक भिन्न स्वाद है। राम-सीता के साथ लक्ष्मण-उर्मिला, भरत-मांडवी और शत्रुघ्न-श्रुतिकीर्ति के युग्मों की एकदम नवीन रूप में झाँकी कराई है। कौशल्या की निस्पृह ममता और भी गहरी और निर्मल कोमल हैं। कैकेयी की लांछना निर्मूल ही नहीं, पावन भी कर दी है। रावण में सहृदयता की खोज और सुमित्रा में क्षत्राणी-भाव एकदम नई चीज़ें है। विवाह, विरह और मिलन-काल में 'सुलक्षणा' दासी को उर्मिला की सखी बनाकर उसे भाव-जगत की स्वाभाविक साथिन बना दिया है। सीता के साथ उर्मिला के अपने प्रियतम के प्रथम दर्शन पर आत्म-

समर्पण की गाथा भी मधुर है। लक्ष्मण को उद्धत दिखाना स्वाभाविक नहीं हुआ। राम के लिये अथवा किसी के लिये हो, उनका क्रोध सुन्दर और उपयुक्त शब्दों में व्यक्त नहीं हुआ। यही क्रोध-प्रदर्शन सीता के सामने विलक्षण सुन्दर हो उठा है—

उठा पिता के भी विरुद्ध मैं, किंतु आर्य-भार्या हो तुम,
इससे तुम्हें क्षमा करता हूँ, अबला हो, आर्या हो तुम।

चरित्रों में सबसे अधिक सफलता मिली गुप्त जी को कैकेयी की मूर्त्ति खड़ी करने में। उनके अन्य सभी चरित्र सरल हैं। हम चाहें तो एक-एक शब्द में उनका चरित्र-चित्रण कर सकते हैं। राम पुरुषोत्तम हैं, सीता और माण्डवी पतिप्राणा, कौशल्या माता हैं, सुमित्रा क्षत्राणी, दशरथ धर्म-सङ्कट हैं, भरत-लक्ष्मण भ्रातृ-स्नेही; परन्तु कैकेयी के सम्बन्ध में कुछ पता नहीं है कि वह किस समय क्या कर बैठे। उसके भावों का उतार-चढ़ाव बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से कवि ने दिखाया है। अपने पुत्र के अनिष्ट साधन के लिए माता को तत्पर करना कितना दुःसाध्य काम है! साकेत की कैकेयी के सामने राम-भरत का प्रश्न नहीं है, दो राम का प्रश्न है। राम के प्रति कैकेयी की ममता को समझने के लिए यह मान लेना चाहिये कि भरत और राम दोनों उसी के गर्भ से उन्पन्न हुए हैं। राम के राज्याभिषेक की कल्पना से आह्लादित होना, मंथरा के सपत्नीपुत्र और औरस-पुत्र के भेद-भाव पर खीझ प्रकट करते हुए भविष्य में राम की माता कहलाने का विश्वास और गर्व बचाए रखना और आगे चलकर चित्रकूट में राम को अपनी गोदी में पाल कर बड़े करने की स्मृति से अपने वात्सल्य का परिचय देना, यह साफ सिद्ध करता है कि कैकेयी राम को अपने पुत्र के अतिरिक्त कुछ समझती ही न थी। मंथरा, अंतर में मातृ-प्रेम को उभार कर, सौतिया-डाह को उकसा कर और संशय के विषबीज को वपन कर, मानिनी कैकेयी को छोड़ जाती है। इस आवेश-काल में उससे वह अशुभ कर्म हो जाता है जिसके लिये वह युग-युग से कलंकित है, जिसके लिये किसी भी कलहातुरा स्त्री को 'कैकेयी' कहा जाता है। राम के प्रति अपनी ममता, साथ ही भूल-भरे कर्म के न्याय-पक्ष को वह बड़े विश्वास

के साथ व्यक्त करती है—

> **भ्रम हुआ भरत पर मुझे व्यर्थ संशय का,**
> **प्रतिहिंसा ने ले लिया स्थान तब भय का।**
> **तुम पर भी ऐसी भ्रांति भरत से पाती,**
> **तो उसे मनाने भी न यहाँ मैं आती।**

यह कठोरा कैकेयी धीरे-धीरे फिर अपने वास्तविक रूप में आती है। पहिला आघात लगता है उसे दशरथ की मृत्यु का। उस समय 'रोना उसको उपहास हुआ।' दूसरा आघात लगता है उसके 'क्षुधित पुत्र-स्नेह' को पुत्र की कठोर कर्कश विरक्ति-भरी खिन्न वाणी का। जिसके लिये स्नेह तोड़ा, धर्म छोड़ा, न्याय फेंका, वही उपकृत न होकर तिरस्कार करे! भाव-परिवर्तन का यह कैसा अमोघ साधन है! कैकेयी की क्रूरता, दर्प-भावना, द्वेषवृत्ति सब बह जाती हैं। वह एकदम निर्मल हो जाती है, एकदम कोमल, एकदम विनम्र, एकदम गद्गद्, एकदम अधीर! उसका नैराश्य-पूर्ण अनुताप- दग्ध हृदय राम को सम्बोधन करते हुये कहता है—

> **अनुशासन ही था मुझे अभी तक आता,**
> **करती है तुमसे विनय आज यह माता।**

कैकेयी के चरित्र का यह विश्लेषण, यह पतनोत्थान और यह पश्चाताप-प्रदर्शन मानस की 'गरति गलानि कुटिल कैकेयी' के चित्र से अधिक पूर्ण होने के कारण निश्चय ही अधिक श्लाघनीय है।

गुप्त जी संयोग-काल के कवि हैं, यह कह चुके हैं। साकेत में उर्मिला-लक्ष्मण के तीन मिलन-स्थल हैं—प्रथम, नवम और द्वादश के उत्तरार्ध। तीनों ही अत्यन्त सजीव हैं। अष्टम सर्ग में राम-सीता का एक दूसरे की आँखों के सामने रहना और एकादश में भरत-मांडवी का पास बैठकर बातें करना यह सिद्ध करता है कि गुप्त जी प्राणवान कवि हैं। नवम सर्ग में भी संयोग-काल के चित्रों को, चाहे वे देवर-भाभी के विनोद-पल के हों या लक्ष्मण-उर्मिला के आलिंगन-चुम्बन आदि की स्मृति के, सरसता की दृष्टि से आप

(जैसे—माई मुख-लज्जा उसी छाती में छिपाई थी) पृथक् कर सकते हैं। प्रथम सर्ग उर्मिला के यौवन-निर्झर सा सरस, आकर्षक और वेगवान है। नवम सर्ग में जहाँ अपने जीवन-मध्याह्न में विरह-ताप से सरिता-सी सूखी उर्मिला दिखाई गई है, वहाँ काव्य की धारा भी क्षीण हो गई है और शब्दों के रूखे रोड़ों के दीर्घ-पथ को पार करती हुई यह तन्वंगी पयस्विनी कठिनाई से आगे बढ़ती है। अमित छन्द-डगों से चौदह वर्ष की कठोर भूमि को पार कर अन्त में फिर एक बार उर्मिला की भाँति ही उमंग से भर कर काव्य-धारा लक्ष्मण के प्रेम-पयोधि की ओर मुड़ जाती है। उर्मिला की उस सूखी विरह-दशा की साक्षिणी सी सुलक्षणा-भावुकता ने भी कवि को चकित-हसित दृष्टि से देखकर मंच से बिदा होते-होते कहा होगा—बोलो तो कविराज कहाँ ये रंग भरे थे?

उषा-काल में अरुण-पट पहने हुए उषा-सी, कमनीय उर्मिला का सौंदर्य अपूर्व है। उस कनकवर्णी तरुणी के हीरकों में जड़े गोल नीलम से बड़े-बड़े नेत्र, पद्मराग से अधर, मोतियों से दाँत, घन-पटल से केश तथा कांत कपोल उसके रूप को अनिंद्य बना रहे हैं। वह ललित कलाओं—चित्र, गान, नृत्य में दक्ष तथा शिष्ट साहित्यिक व्यंग्यपूर्ण परिहास करने में पटु है। उसके शरीर में यौवन की उमंग और मन में प्रेम का आवेग है। उर्मिला एक साथ ही मानमयी, प्रेममयी, विनोदमयी तथा भक्तिमयी है।

यह भोगमयी उर्मिला वियोगमयी बनती है और वियोग को जीत कर फिर संयोगमयी होती है। नवम सर्ग के उत्तरार्द्ध में जैसे सीता गंभीर अनुग्रह से गुहा में उर्मिला-लक्ष्मण मिलन कराती हैं, उसी प्रकार सुलक्षणा द्वादश के उत्तरार्द्ध में लक्ष्मण-उर्मिला मिलन देखकर सरक जाती है। इन दोनों का सरकना ही एक कविता है। चित्रकूट में जैसे उर्मिला का गला रुद्ध करना कवि की भावुकता का साक्षी है उसी प्रकार द्वादश में मैना का मुखर होना भी। उस एक ही पंक्ति में कवि ने चौदह बर्ष का वह विरह उड़ेल दिया जिसे—

तिल-तिल काट रही थी दृग-जलधार।

विरह-विकास और विरह-वर्णन की जो रूपरेखा है, यदि उसे विस्तार न दिया जाता तो साकेत की मार्मिकता द्विगुणित हो जाती। लक्ष्मण के पृथक् होते समय सीता के कंधे पर उर्मिला के आँसुओं का झर-झर बरसना, भारतीय ललनाओं के चरित्र के अनुरूप 'प्रिय पथ के विघ्न' न बनने का निश्चय करना, सुमन्त के लौटने के पूर्व उसके मुख का पीला और शरीर का कृश पड़ना, वह प्रसन्नता से उन्हें बिदा न कर सकी इस पर उसका बार-बार पछताना, मानस-मन्दिर में पति की प्रतिमा स्थापित कर जलते हृदय की आरती से आराध्यदेव की पूजा में रत रह कर अभाव में जीना, कुछ कम सुन्दर नहीं है।

उर्मिला के विरह-वर्णन में कई स्थानों पर सुन्दर भाव झलक मारते हैं। उर्मिला की सहानुभूति पशु-पक्षियों तक विस्तृत हो गई है। शिशिर मानस के जल को जमा देता है, यही सोचकर उर्मिला उससे प्रार्थना करती है कि वह उसके मानस-भाजन में नयन-नीर को जमादे। इसे वह मोती-सा सुरक्षित रखेगी और लक्ष्मण को भेंट करेगी। विशाल दुःख को छोटे-से-छोटे रूप में समेट कर रखने का इससे सरल और कौन-सा उपाय हो सकता था? वह चरण-धूलि स्पर्श करने के लिये लक्ष्मण के निकट वन में छिपकर रहने की कामना करती है। इस अभिलाषा में कितना सुख है, कितना दुःख! भूली-भूली उर्मिला ने अपनी तूली से जो विरहिणी की चिता पर देर से पहुँचे प्रेमी को रुलाकर प्रेमिका की मुखाकृति का पुष्प उगाया है, उससे पाठकों के हृदय पर कितनी गहरी चोट पहुँचती है। दशम सर्ग में घन-बिंदुओं में परिवर्तित होने के लिये अश्रु-बिंदुओं को सरयू की भेंट किया है। इस भावना में कितना विषाद है, कितना प्रेम, कितनी वेदना! उर्मिला की विक्षिप्तावस्था में वन से लौटते लक्ष्मण का चित्र उपस्थित कर प्रेम और कर्त्तव्य का जो संघर्ष दिखाया है, वह भी विलक्षण मार्मिकता लिए हुए है।

यह सब कुछ सुनकर लगेगा, मानो 'नवम' सर्ग कितना सरस है। परन्तु ये गिनी चुनी पंक्तियाँ हैं, गिने चुने स्थल—विस्तृत मरुस्थल के हरियाले खंड। नवम सर्ग में पल-पल पर छन्द बदलता है जिससे निश्चय ही रस का संग्रह यथेष्ट परिमाण में नहीं हो पाता। सरसता का स्थान आलंकारिक चमत्कार

ने ले लिया है, जिससे भाव को सहायता नहीं पहुँचती। भाव-चयन के स्थान को खाने, पीने, पहनने तथा चिड़ियों को गिनने के काम ने ले लिया है। कहीं साँस से आकाश में फफोले पड़ने की, कहीं बूँदों के शरीर को स्पर्श करते ही भाप बनकर छू-मन्तर हो जाने की, कहीं मलयानिल के लू बनने की अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पनाएँ हैं। नवम सर्ग का विरह-वर्णन कवि के प्राणों की प्रेरणा से नहीं निकला। उसका यह विश्वास है कि ज़्यादा कहने से अच्छा कहा जाता है। इसी से वस्तुएँ जितनी देर दृष्टि-पथ में ठहरनी चाहिये थीं, उससे अधिक देर ठहरी हैं। चित्रकूट, बादल, नदी, किसान, किरण, होली, शतदल आदि के वर्णन बहुत कुछ स्वतंत्र कविताएँ सी हैं जो पूर्णरूप से पच नहीं पाई हैं। यों कोई न कोई कारण प्रत्येक बात का दिया जा सकता है। कहीं-कहीं कल्पनाएँ बड़ी विचित्र सी हैं जैसे फूल को 'लता का आँसू' कहना। सुमन में जो रम्यता भरी हुई है वह उसे लता की हूक का परिणाम सिद्ध होने में बाधक होती ही है। और यह कितने आश्चर्य की बात है कि उर्मिला के इस दीर्घकालीन विरह के जीवन में परिवार का कोई प्राणी प्रवेश नहीं करता। उसके एकांत-निवास के आचरण से ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह उस कुल की वधू ही नहीं है।

साकेत का वर्णन एक अत्यन्त समृद्धिशाली नगरी का वर्णन है जिसमें प्रत्येक आँगन में शिशुओं की अनिवार्य कलित-क्रीड़ा और आधि-व्याधि की पूर्ण शांति से यद्यपि आदर्श की गन्ध आ गई है, पर 'दधि विलोड़न' 'शास्त्र मंथन' की ध्वनि और 'यज्ञयूप' तथा 'कीर्त्ति-स्तम्भों' के दर्शन से उसके तात्कालिक रूप को प्रत्यक्ष किया गया है।

प्रकृति-वर्णन में अधिकतर तो वस्तुओं का विवरणमात्र है, जैसे दशम सर्ग में प्रभात का वर्णन। पञ्चम सर्ग का वन-वर्णन भी ऐसा ही है। केवल छाया का वर्णन वहाँ चित्रमय भी है, रम्य भी और भावपूर्ण भी। प्रथम सर्ग में प्रभात का वर्णन कुछ अधिक ललित कल्पना-कलित है। वहाँ पृष्ठभूमि के रूप में प्रभात की लालिमा उर्मिला के सौन्दर्य को द्विगुणित कर रही है अथवा अपने सौन्दर्य को अगणित, कहा नहीं जा सकता। प्रकृति को कवि ने परिस्थितियों से प्रभावित भी किया है और उसे मानवीय भावों को गहरा

बनाने वाला भी रखा है। दशरथ के शवदाह से पूर्व प्रकृति को एक विधवा के रूप में दिखाया है और चित्रकूट में भरत की कार्य-समाप्ति पर उसे हँसते किलकिलाते। द्वादश सर्ग में युद्ध-यात्रा के अवसर पर शत्रुघ्न सरयू की उज्ज्वल धारा को 'साँस लेकर' निहारते हैं। नवम सर्ग में उर्मिला के दिन प्रकृति के साथ ही कटते और ढलते हैं। भावों की लपेट में वहाँ प्रकृति के न जाने कितने रूप खुलते हैं। गुप्त जी ने उर्मिला के विरह-वर्णन को बहुत कुछ षट्ऋतु वर्णन में बद्ध कर दिया है। प्रकृति भी उसके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करती दिखाई देती है। ग्रीष्म में इधर दीन-दृग दुःखी हैं, उधर मीन मृग विकल हैं, हेमन्त में यदि उर्मिला घर में दुबली थी तो पद्मिनी सर में नाल-शेष थी, शिशिर में मकड़ी सहानुभूति दिखाती क्योंकि वह भी तो उर्मिला जैसी जाल-गता थी, वसंत में षट्पदी (भ्रमरी) भी उसी प्रकार पद्म में गतिहीन बैठी थी जिस प्रकार निज सद्म में सप्तपदी (विवाहिता) उर्मिला। इसी प्रकार उर्मिला के आँसू देख लता भी फूल के रूप में अपने आँसू गिराती थी। गुप्त जी ने विराट् दृश्यों को कहीं विराट् और कहीं-कहीं लघु चित्रों में बाँधने की सफल योजना की है—

(अ) तम में क्षिति लोक सुप्त यों,
अलि नीलोत्पल में प्रसुप्त ज्यों। **(दशम सर्ग)**

(आ) वन-मुद्रा में चित्रकूट का नग जड़ा। **(पंचम सर्ग)**

(इ) हुआ विदीर्ण जहाँ-तहाँ श्वेत आवरण जीर्ण,
व्योम शीर्ण-कंचुक धरे विषधर-सा विस्तीर्ण। **(नवम सर्ग)**

साकेत में आधुनिकता का पुट यहाँ-वहाँ है। मैथिलीशरण जी ने जैसा दिखाया है वैसा त्रेता में नहीं होता था, ऐसी आपत्ति हम नहीं करते। फिर भी ग्रन्थ में कुछ ऐसे संस्मरण हैं जिनसे यह पता चलता है कि साकेत का निर्माण बीसवीं शताब्दी में हुआ है। शंका यह नहीं है कि राम के वन जाते समय जनता उनके रथ के 'आगे लेटी' अथवा नहीं, उसने उनसे 'रौंद' कर जाने को कहा था अथवा नहीं, 'लोकमत' की ओर उनका ध्यान आकर्षित

किया था अथवा नहीं, राम ने 'विनत-विद्रोह' शब्द का प्रयोग किया होगा अथवा नहीं ? इसी प्रकार सीमा पर पहुँच कर भगवान राम मातृ-भूमि के गुणानुवाद में साकेत के राम की भाँति तल्लीन हुए थे अथवा नहीं ! द्वादश सर्ग में सेना को उत्तेजित करते समय भरत-खण्ड पर अत्याचार करने वालों को नरक मिलने की अभिशाप-भावना, दस्युओं के हाथ में कुल-लक्ष्मी के पड़ने पर क्षोभ-भावना और वैरियों को मारने की उत्तेजना-वृत्ति शत्रुघ्न के हृदय में जगीं, सैनिकों के हृदय में जगाई गईं अथवा नहीं ? निवेदन इतना ही है कि त्रेता की कथा को कहते समय कवि बीसवीं शताब्दी के भारत और उसकी राजनीतिक हलचल को भी भूला नहीं है, इसे संभवतः उसका हृदय भी अस्वीकार न करे।

दशरथ का परिवार एक सम्पन्न हिन्दू परिवार का चित्र है और उसका वातावरण एक सनातनधर्मी गृह का वातावरण है, देवताओं की पूजा जहाँ होती रहती है और जहाँ किसी स्वार्थ को लेकर कोई स्त्री कुछ दिन को कलह उत्पन्न कर देती है जिसे मिटाने के लिए, कुटुम्ब-भावना को अक्षुण्ण रखने के लिए, मिलकर रहने के लिए परिवार के अन्य व्यक्ति त्याग करने को तत्पर रहते हैं। होम करते समय सनातन-धर्मियों के विश्वानुसार पितरपरितोष के चिह्न-स्वरूप इस दृश्य पर ध्यान दीजिये—

हो गई होम की शिखा समुज्ज्वल दूनी,
मंदानिल में मिल खिली धूप की धूनी।

'प्रसाद,' 'गुप्त', 'उपाध्याय' और गुरुभक्तसिंह जी में से विनोद अथवा हास्य का विधान केवल गुप्त जी ने थोड़ा-बहुत किया है। प्रथम सर्ग में उर्मिला-लक्ष्मण की विनोद-वार्ता गुद-गुदी उत्पन्न करने वाली है। एकादश सर्ग में दीर्घ जटाधारी धनुर्धर भरत से माण्डवी का पीछे से चुप आकर यह कहना कि 'जटा और प्रत्यञ्चा में कौन लम्बी निकली ?' एक पल के लिए उस विषाद-मग्न वातावरण में मुस्कान की किरण दौड़ता है। नवम-सर्ग में देवर-भाभी अथवा ननद-भाभी को लेकर मजाक की स्मृतियों को हम नमकीन कहें अथवा मधुर निश्चय नहीं कर पाते। अंतिम सर्ग में युद्ध की

उस उछलकूद वाली स्थिति में जहाँ 'केतु झकझका रहे थे, वस्त्र धकधका रहे थे, शस्त्र भकभका रहे थे, लोग टकटका रहे थे और नगर-जगैया जगर-मगर जगमगा रहे थे', शत्रुघ्न 'न वानर ही यश लेलें' के लोभ को सामने रख सैनिकों को उत्तेजित कर रहे हैं। वशिष्ठ की शांत वाणी के छींटों से जब इस भकभकाने और झकझकाने का उफान शांत होता है, तब सैनिकों की स्त्रियों ने इस कमाल से मुँह बना कर 'वानर यश ले गए' कहा है कि सैनिक खिसियाते हुए भी मुसका उठे होंगे। लंका में हनुमान के 'मैं वह हूँ जो जला गया था लङ्का पहिले' वाक्य से ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई बन्दर किसी खिड़की में से मुँह निकालकर अपनी विचित्र मुद्रा से हमें हँसा गया हो।

साकेत में गुप्त जी ने 'कला' पर अपने विचार प्रकट किए हैं। रामचरित मानस में तुलसी ने कविता क्या है, कविता कैसे लिखी जाती है, कविता किसके लिये लिखी जाती है, कविता कहाँ तक लोकप्रिय होनी चाहिये, कविता का लक्ष्य क्या है आदि प्रश्नों पर विचार किया है। मैथिलीशरण जी 'कला कला के लिए' (Art for the sake of art) सिद्धान्त को नहीं मानते, 'कला जीवन के लिए' (Ast for the sake of ilfe) वाले सिद्धांत को मानते हैं। वे हृदय से आदर्शवादी (Idealist) हैं तथ्यवादी (Realist) नहीं। सुन्दर को सुन्दरतर बनाना और असुन्दर को उभरने न देना, उनका लक्ष्य रहता है। कला-सम्बन्धी धारणाओं में प्रेमचन्द जी और गुप्त जी एक हैं। हमारा विश्वास है कि इतनी स्पष्ट व्याख्या कोई गद्य में भी नहीं कर सकता था—

(१) अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला।

(कला की परिभाषा)

(२) सुन्दर को सजीव करती है भीषण को निर्जीव कला।

(श्लील-अश्लील पर धारणा)

(३) जो अपूर्ण, कला उसी की पूर्ति है। (कला की महत्ता)

अनेक परिवर्तनों को स्वीकार करते हुए भी गुप्त जी अपने कथानक के सृजन में तुलसी के बहुत ऋणी हैं, इस बात को उदाहरण देकर सिद्ध करने की सम्भवतः आवश्यकता नहीं है। गीता के सिद्धान्त भी अनेक स्थलों पर अनुवाद होकर आये हैं। रहीम, बिहारी आदि कवियों के सुन्दर भाव भी स्मृति रूप में रह गए हैं। दशम सर्ग में जिसके प्रारम्भ में ही कवि ने कालिदास की जय मनाई है, मुझे ऐसा लगता है जैसे मेघदूत की कल्पना का गुप्त जी ने उपयोग किया हो। जैसे यक्ष अपनी विरह-गाथा मेघ को सुनाता है, उसी प्रकार उर्मिला अपनी जीवन गाथा सरयू को सुनाती है और जैसे यक्ष उसकी मौनता को सज्जन की मौनता मानकर यह विश्वास कर लेता है कि मेघ ने उसके कार्य को सहर्ष स्वीकार कर लिया, उसी प्रकार लक्ष्मण की चरण-रज छूने की अभिलाषा में अपने आँसुओं को भेंट करती हुई उर्मिला यक्ष का सा यह विश्वास प्रकट करती है—

अनुमोदन या विरोध है?
मुझको क्या यह आज बोध है?
मन के प्रतिकूल तो कहीं,
करते लोग कुभावना नहीं।
तुझको कल - कांत - नादिनी,
गिनती हूँ अनुकूल - वादिनी!

साकेत के नवीन संस्करणों में गुप्त जी ने यहाँ-वहाँ बहुत से परिवर्तन किये हैं—कहीं शब्द के, कहीं पंक्तियों और कहीं-कहीं पूरे पद के। आठ दस स्थलों पर ऐसे परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। उनमें से दो का उल्लेख करते हैं। एक नवम सर्ग में 'विरह संग अभिसार भी' पद है। उससे किसी विशेष सौंदर्य की वृद्धि नहीं हुई। उनके किसी भी गीत में वांछित कोमलता और स्वर-सरसता नहीं है। सम्भवतः यह पद 'नवम सर्ग में तब भी कुछ शेष रह गया था' की एक छोटी किस्त है। पर षष्ठ सर्ग में दशरथ के मृत्युकाल के समय कुछ पंक्तियाँ बढ़ाकर राम-वियोग के ताप से छटपटाकर मरने वाले

व्यक्ति को कौशल्या के अनन्त उत्सर्गपूर्ण नारी-हृदय की छाया में अपूर्व शान्ति प्रदान की है। पहिले यह बात नहीं आ पाई थी—

पाकर दशरथ जैसा दानी,
कर चुकी भोगिनी मनमानी।
माँगो तुम भी कुछ पटरानी।
दूँ लेकर आँखों का पानी।
माँगूँगी क्यों न नाथ तुमसे,
दो यही मुझे कल्पद्रुम से
कैकेयी हों चाहे जैसी,
सुत-वञ्चिता न हों मुझ जैसी।
"क्या यही माँग कर लेती हो,
या मरण-शांति तुम देती हो?"

अन्तर के भाव को बाहर प्रकट करने के लिये गुप्त जी ने पात्रों की मुद्राओं और अंग-भंगियों का सधे हाथ से अङ्कन किया है। स्नेह में उर्मिला की 'ललित ग्रीवा भंगी', मंथरा पर क्रोध करते समय कैकेयी की भौंहों का वक्र होना तथा कपोलों पर बालों का हिलना, लक्ष्मण की डाट पर उसका अपने ओठों को चबाकर रह जाना, बन जाने की उमंग में सीता का 'कनखियों से राम की ओर देखना' और चित्रकूट में धनुष के सहारे बैठे राम के सामने तिरछे घूम कर निकल जाना, भरत का हाथ में जटाएँ लिए शांत मुद्रा से बैठना अथवा शत्रुघ्न का छाती निकाल कर अश्वारूढ़ होना, मानो पात्रों को हमारे सामने ही खड़ा कर देना है। नीचे की पंक्तियों में राम की सुकुमारता, दशरथ की कातरता और कैकेयी की कठोरता एक साथ खिंच आई हैं—

पकड़ कर राम की ठोड़ी, ठहर के,
तथा उनका बदन उस ओर करके।
कहा गत-धैर्य होकर भूपवर ने—
चली है देख तू क्या आज करने!

अभागिन ! देख कोई क्या कहेगा ?
यहीं चौदह बरस वन में रहेगा !

कैकेयी की बुद्धि का विकृत होना मनोवैज्ञानिक ढंग पर रखा गया है। क्रोध की दशा में हार को तोड़ना, चित्र को चूर करना, मतवालों के समान घूमना भी बहुत स्वाभाविक है। अपनी योगमाया से जब वशिष्ठ ने मूर्छित लक्ष्मण को दिखाया है, तब उर्मिला के उर-स्पंदन का मंद पड़ना और लक्ष्मण द्वारा मेघनाद के वध पर मुख पर लज्जा-लाली का छाना यह सिद्ध करता है कि घटनाओं के व्यस्त-वर्णन में भी कवि की दृष्टि लक्ष्य-स्थल पर टिकी हुई है।

कहीं-कहीं जहाँ पँक्तियाँ अत्यन्त शिथिल सी प्रतीत होती हैं वहाँ भी गुप्त जी ने अपनी बुद्धि से किसी न किसी कौशल का प्रयोग किया है, जैसे दशरथ का सीता को स्मरण करते समय जानकी न कह कर 'उर्मिला बहू की बड़ी बहन' कहना, शब्दों का व्यर्थ खर्च-सा लगेगा, पर इससे उन्हें उर्मिला की याद आ जाती है और वे तुरन्त कहते हैं, "उर्मिला, कहाँ है हाय बहू !" जयद्रथ-वध में इस चातुरी (art) का प्रयोग उन्होंने किया है— 'उत्तर दिशा से उत्तरा की याद उनको आ गई।' तृतीय सर्ग के अन्त में जहाँ उन्होंने लिखा है—'चले पीछे लक्ष्मण भी ऐसे, भाद्र के पीछे आश्विन जैसे', वहाँ ऐसा लगता है कि उपमान अत्यन्त साधारण हैं, पर इनमें भी एक तो नित्य-संग का भाव भरा हुआ है और दूसरे वर्ण-साम्य भी है—भाद्र (श्याम-राम) आश्विन, (धवल-लक्ष्मण)। निम्नलिखित वर्णन में भी 'भरती' नहीं है, यदि 'कर युग' का अर्थ राम-लक्ष्मण, 'कटि' का सीता, 'पुतली' का उर्मिला समझ लिया जाय ! चौथी पंक्ति तब कितनी सुन्दर हो जायगी—

मेरे कर युग हैं टूट चुके,
कटि टूट चुकी सुख छूट चुके,
आँखों की पुतली निकल पड़ी,
वह यहीं कहीं है विकल पड़ी।

कथा का विकास बहुत कुछ कथोपकथन-शैली पर हुआ है। कथोपकथन पर छंद और तुक की भाँति गुप्त जी ने पूर्ण अधिकार कर लिया है। कथोपकथन् के आधार पर द्वितीय सर्ग में चलचित्रों की त्वरा भर दी है। एक कोने में मंथरा-कैकेयी संवाद है। कैमरा घूमता है। वह कौशल्या और सीता को देवार्चन में रत दिखाता है। कैमरा और मुड़ता है। हमें उर्मिला-लक्ष्मण बैठे दिखाई देते हैं। एक अन्य कोण में राम-सीता समुपस्थित हैं। उन्हें भी छोड़ कर हम दशरथ और वशिष्ठ दो वृद्धों को बात करते देखते हैं। एक ही स्थल के भिन्न-भिन्न अंशों में साकेत के सभी पात्रों के रूप, वय, शील का परिचय कैसी चातुरी से दिया है!

कहीं किसी क्रिया द्वारा, कहीं किसी वातावरण द्वारा, कहीं किसी कथन द्वारा और कहीं किसी भावना द्वारा आगामी घटनाओं की सूचना अप्रत्यक्ष रूप से कवि ने दी है। लक्ष्मण का चित्र अंकित करते समय सात्विकों के बहाव में उर्मिला की तूलिका से रंग की रेखा का बहकर अभिषेक-घट में पहुँचना, राम के राज्याभिषेक में रंग-भंग होने का लक्षण है। दशरथ के कैकेयी के महल में घुसने से पहिले ही यामिनी सुसज्जित होकर और संध्या को आगे ढकेल कर उस प्रासाद के ऊपर 'नूतन खेल' देखने को आ जाती है। इस बात की सूचना मिलने से पहिले ही कि राम साम्राज्य के अधिकारी नहीं होंगे, वे बड़े सन्तोष के साथ लक्ष्मण से भेंट करते हुए कहते हैं—"प्रत्यक्ष यह सामाज्य पाया।" भरत के लौटने पर साकेत के बाहर का वातावरण एकदम उदास है। इसी प्रकार चित्रकूट में एक ओर सीता सोचती हैं, 'हम और कहीं तो नहीं चलेंगे तब लौं' और दूसरी ओर राम कहते हैं, "ऐसा न हो कि मैं फिरूँ खोजता तुमको?" ये दोनों बातें ठीक उतरीं। एकादश सर्ग में राम के अयोध्या लौटने से पूर्व प्रतीक्षा-मग्न मांडवी एक ओर किसी अस्पष्ट आशङ्का से प्रेरित अपने उर के अव्यक्त आर्त्त-भाव का संकेत करती है, दूसरी ओर शत्रुघ्न साम्राज्य में चारों ओर शुभ लक्षणों को देखते हुए भी 'मन में खटक रहा है कुछ' बतलाते हैं। यह प्रसंग समाप्त नहीं हो पाता कि हनुमान लक्ष्मण के आहत होने का अशुभ संवाद देते हैं।

साकेत प्राचीन और नवीन का विलक्षण मेल है। आधुनिक भावनाओं

के अनुकूल होने से यह हमारे आकर्षण का कारण है, पर इसमें भी स्थान-स्थान पर भाग्यवाद की चर्चा है। 'गई गिरा मति फेरि' से 'भरत से सुत पर भी सन्देह' में जो भाग्य के स्थान पर मनोविज्ञान को ग्रहण किया है वह तो प्रशंसा की बात है, पर भाग्यवाद और आकाश-निवासी देवताओं में विश्वास बना हुआ है। सुमन्त के साकेत लौटने पर देवता ऊपर से चिल्लाते हैं-"सुर बोले,...था सुर कार्य वहीं।" दशरथ की मृत्यु पर "ऊपर सुरांगनाएँ रोईं"। वशिष्ठ भरत को सूचना देते हैं 'गा रहे हैं सुर तुम्हारे गीत।' चित्रकूट-सभा के निर्णय को देवगण टकटकी लगा कर देखते हैं। मारीच का हेम-हिरण बनना, हनुमान का समुद्र को पार करना और आकाश में उड़ना आदि अलौकिक कर्म भी बने हुए हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन संस्कारों से पूर्ण होने के कारण गुप्त जी ने न लोक की परिवर्तित रुचि का ध्यान रखा और न राम-काव्य के आलोचकों से लाभ उठाया। परिणाम यह होगा कि जिन अस्वाभाविकताओं के लिए तुलसी की निन्दा की जाती है, उन्हीं के लिए मैथिलीशरण जी भी दोषी ठहराए जायँगे।

भाषा साकेत की कहीं चिकनी, कहीं खुरदरी और कहीं नुकीली है—पथ के रोड़ों को सरिता ने जैसे कुछ घिस दिया हो, कुछ न घिसा हो। पंक्तियाँ व्याकरण-सम्मत हैं। छन्द भावानुकूल हैं और अंत्यानुप्रास पर उनका पूर्ण अधिकार है। अर्थ की दृष्टि से दुरूहता कहीं नहीं। 'प्रसाद' और 'गुप्त' जी की कविता में यह अंतर है कि 'प्रसाद' के काव्य-उपवन में जहाँ रुक-रुक कर पद-चारण करना पड़ता है—आगे चरण रखने पर यह लोभ बना रहता है कि पूर्ण सौंदर्य का उपभोग हमने अभी किया अथवा नहीं—वहाँ गुप्त जी के काव्य में जिह्वा सरपट दौड़ती चली जाती है। साकेत में दुरूहता वहीं है जहाँ जान बूझकर वे दुरूह बने हैं, उदाहरण के लिए कहीं कम प्रसिद्ध अनुभव संबंधी जैसे 'गजभुक्त कपित्थ' में (निर्गच्छति सदा लक्ष्मी गजभुक्त कपित्थवत।) कहीं साहित्य-शास्त्र संबंधी जैसे 'बैठीं नाव निहार लक्षणा-व्यंजना' में, कहीं न्यायशास्त्र संबंधी जैसे 'सहज मातृगुण गंध था कर्णिकार का भाग' में, (कनेर में गन्ध होते हुये भी गन्ध नहीं मानी जाती), कहीं रसायन-ज्ञान सम्बन्धी जैसे 'उस रुदन्ती विरहिणी' में या फिर जहाँ दो

चित्रों का घपला कर दिया है जैसे नीचे की पंक्तियों में कुमुदिनी का चित्र पूर्ण करते-करते कोक घुसा दिया है। इससे जो भावधारा बँधकर चल रही थी, वह विच्छिन्न हो गई।

> **आगे जीवन की संध्या है देखें क्या हो आली ?**
> **तू कहती है—'चन्द्रोदय ही काली में उजियाली, ?**
> **सिर-आँखों पर क्यों न कुमुदिनी लेगी वह पद-लाली !**
> **किन्तु करेंगे कोक-शोक की तारे जो रखवाली ?**
> **'फिर प्रभात होगा' क्या सचमुच ? तो कृतार्थ यह चेरी।**

खड़ी बोली के कवियों में निस्संदेह मैथिलीशरण जी की रचनाओं में जो प्रसाद गुण है वह ईर्ष्या की वस्तु है। गुप्त जी की अपनी कमियाँ अलग हैं और वे अत्यन्त स्पष्ट हैं। तुक के आग्रह के लिये कभी-कभी वे बहुत गड़बड़ करते हैं। 'उपमोचितस्तनी' और 'ठीक-ठनी,' 'राई-रत्ती और तत्ती' 'मल्ली और लल्ली' आदि प्रयोग तो हैं ही, शब्दों में भी 'शशी' 'प्रती' 'लौं' 'कै' आदि लिखना इसलिए खटकता है कि थोड़ा इधर-उधर करने से ये ही प्रयोग खड़ी बोली के अनुरूप हो सकते थे ? जैसे 'जब लौं' 'तब लौं' के स्थान पर 'जब तक' 'तब तक' लिखा जा सकता था। 'अब कै दिन के लिए खेद यह' के स्थान पर 'कितने दिन के लिये खेद यह' हो सकता था। 'शशी' के स्थान पर तीन मात्राओं का 'इन्दु' 'चन्द्र', में से कोई पर्याय ले लेना था। प्रत्येक शब्द में एक विशेष अर्थ भरा रहता है। उसके विकृत रूप से भी वही भाव व्यंजित हो यह आवश्यक नहीं। साकेत के प्रारम्भ में 'शारदा' की वन्दना वाला 'पसार दे' शब्द ऐसा ही है। गुप्त जी जब लिखते हैं, "इधर भी निज वरद-पाणि पसार दे" तब ऐसा लगता है कि किसी से भीख माँगने के लिये 'हाथ पसारने,' को कह रहे हैं। 'गोबर' 'घूड़े' 'डकार' के प्रयोग भी रुचिकर नहीं। 'लेखनी अब किस लिए विलंब' या 'लेखनी लिख उनका भी हाल,' आल्हा के ढंग की "ह्याँ की बातें तौ ह्याँ रहि गईं, अब आगे कौ सुनो हवाल" जैसी व्यर्थ तुकबन्दियाँ हैं।

'उपेक्षिता उर्मिला' की खोज (Discovery) न होने पर भी साकेत

जैसे किसी ग्रन्थ की सृष्टि अवश्य होती। मैथिलीशरण जी की भक्ति-भावना के निकास के लिये यह आवश्यक था। ऐसा न होता तो 'हम सबसे अविच्छन्न' राम क्या अष्ठम सर्ग में अपने नाम-माहात्म्य और गुण कर्म-स्वाभाव कथन की महत्ता अपने मुख से वैसे ही घोषित करते जैसे गीता में कृष्ण ने की—

जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे,
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे।
पर जो मेरा गुण, कर्म, स्वभाव धरेंगे,
वे औरों को भी तार पार उतरेंगे।

'साकेत' खड़ी बोली का अत्यन्त लोक-प्रिय ग्रन्थ है और सच बात यह है कि मैथिलीशरण जी भारतीय जनता के बहुत ही प्यारे कवि हैं। साकेत में उन्होंने धर्म प्राण, आदर्श-प्रिय राम-सनेही जनता के मर्म को स्पर्श किया है। इससे साकेत जितने दिन खड़ा रहना चाहिये था, उससे कुछ अधिक दिन ही खड़ा रहेगा।

अति अगाध जे सरितवर
जो नृप सेतु कराहिं
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु
बिनु श्रम पारहि जाहिं।

प्रिय-प्रवास

> विरह ! अहह, कराहते इस शब्द को,
> निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा। —पंत

कृष्ण-चरित्र का मुख्य आधार श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध है। इस महासमुद्र में से अगणित कवियों ने अनन्त भाव-मणियों का सञ्चय किया। निश्चय ही इन मणियों पर तराश सबकी अपनी है, अतः चमक अपनी-अपनी है। क्या विद्यापति, क्या सूर, क्या नन्ददास, क्या रीतिकाल के अनेक कवि और क्या आज के सत्यनारायण जी, रत्नाकर जी, 'हरिऔध' जी तथा श्री मैथिलीशरण गुप्त सभी ने कृष्ण-गोपियों के प्रेम को नवीन-नवीन रूप देकर यह घोषित किया है कि समय इस प्रसंग की सरसता को क्षीण करने में असमर्थ है।

विद्यापति ने संसार के समस्त सौन्दर्य, समस्त प्रेम और समस्त विरह व्याकुलता को मथकर अपनी राधा का निर्माण किया। उनके राधा-कृष्ण विदग्ध नायक-नायिका हैं। विद्यापति की पदावली नायिका की वयः-संधि, नखशिख के वर्णन, सद्यः स्नाता के चित्र, प्रेम की अठखेलियों, दूती की चतुरता, सखी की शिक्षा, अभिसार की तत्परता, मिलन और विदग्ध-विलास के प्रसंग, मान और मान-भंग के दृश्य तथा विरह की व्याकुलता से लहराकर पाठक को अपूर्व प्रेम-रस से सिक्त कर देती है। विद्यापति के द्वारा उद्दाम-प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। राधा-कृष्ण का मिलन, प्रेम और प्रेम का, आवेग और आवेग का मिलन है। काम (Sex) को कला प्रदान करने का श्रेय उन्हें प्राप्त है, पर पीड़ा से उनका क्षीण परिचय है, यद्यपि इस लघु परिचय में भी उन्होंने नारी हृदय के दुःख को पहचानने का प्रयत्न किया है।

सूर का काव्य एक ओर यदि कृष्ण-प्रेम से उद्भूत आह्लाद की प्रसन्न सरिता है तो दूसरी ओर उनकी विरह-व्यथा से उत्पन्न अगाध व्याकुलता का

बारिधि है। गोपियों के विरह के जीवन में उनके प्रबल प्रेम का परिचायक गोपी-उद्धव संवाद है जो 'भ्रमर-गीत' के नाम से प्रसिद्ध है। भ्रमर-गीत का मूल-भाव तो अप्रत्यक्ष रूप से निर्गुण-ज्ञान की समकक्षता में सगुण-भक्ति की स्थापना है, जिसके लिए गोपियों ने ज्ञानार्जन को प्रेमाराधन के सामने शुष्क सिद्ध करके, नारी की कोमलता के लिए उसे असहनीय बता कर, गोपाल-उपासियों की अनन्य भावना पर आघात करने वाला होने से उसे अवांछनीय ठहरा कर अस्वाभाविक प्रमाणित किया है। सूर की गोपियाँ अनन्य स्नेहमयी होने के साथ ही, व्यंग्यमयी भी हैं। उन्होंने कभी कुब्जा को लेकर और कभी कृष्ण को भौंरा बनाकर कस-कस कर उपालम्भ दिए हैं और स्थल-स्थल पर उद्धव की चतुरता की खिल्ली उड़ाई है। फिर भी सूर की गोपियाँ भोली और दीन हैं। सूर के भावों की अनेकरूपता, मनोवैज्ञानिकता और सरसता बेजोड़ है।

नन्ददास की गोपियाँ बड़ी तर्कशीला हैं और वे उद्धव को 'तुर्की ब तुर्की' उत्तर देती हुई निरुत्तर करती हैं। नन्ददास में मस्तिष्क के सामने हृदय कुछ दबता-सा दिखाई देता है। दर्शन काव्य का सहगामी होकर काव्य में घुस आया है और अलंकार उसे आभूषित करते दिखाई देते हैं।

ज्ञान के विरोध में प्रेम की विजय उद्धव-शतक में भी है। ब्रज के स्नेह-सने वातावरण के संपर्क में आते ही उद्धव के ज्ञान का गुमान घट गया। वे गुरु बनकर आये थे, चेला बनकर लौटे। 'रत्नाकर' जी की गोपियाँ जितनी सरल हैं उतनी ही चतुर। वे जितनी विवश हैं, उतनी ही वाक्पटु। उनकी वाक्य-चातुरी विनोद-मिश्रित है; अतः तर्कों में शुष्कता का आभास तक नहीं।

इस परम्परा में भगवान के व्यक्तित्व को एक अनूठे ही ढंग से प्रस्तुत करने वाले श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के 'द्वापर' की महत्ता और कृष्ण-काव्य में उसके विशिष्ट स्थान पर बहुत कम व्यक्तियों की दृष्टि पड़ी है। 'गोपी' शीर्षक रचना में यद्यपि बहुत कुछ प्राचीन कवियों के तर्कों का सहारा लिया गया है—वही ज्ञान का तिरस्कार और प्रेम की महिमा का उद्घोष, वही 'निर्गुण' 'निरीह' 'निराकार' 'योग' शब्दों को अपने-अपने पक्ष में घटाने का प्रयत्न, वही रस-चर्चा, वही भोलापन, वही विवशता, वही त्याग और वही

अनन्यता वहाँ मिलेगी—पर एक नवीन सजीवता के साथ। थोड़ी अलौकिकता भी ग्रंथ के अन्त में संस्कारों की प्रेरणा से प्रवेश कर गई है जैसे—एक मूर्ति, आधे में राधा, आधे में हरि पूरे। साथ ही 'उद्धव' शीर्षक प्रसंग में उस ज्ञानी ने 'गोपियों की गोष्ठी' का जो वर्णन किया है, उपमाओं की वह राशि, रम्य कल्पनाओं की एक अमूल्य निधि है। वहाँ एक से एक मौलिक, एक से एक सरस, एक से एक गुम्फित भावों की विस्तृत लड़ी को लिए पंक्ति गुप्त जी की प्रभावशालिनी लेखनी से निकली है—

अहा ? गोपियों की यह गोष्ठी
वर्षा की ऊषा—सी,
व्यस्त-ससम्भ्रम उठ दौड़े को
स्खलित ललित भूषा-सी।

उस थकान-सी, ठीक मध्य में
जो पथ के आई हो,
कूद गए मृग की हरिणी-सी
जो न कूद पाई हो!

अवश अचलता-सी, जिससे हो
रस चंचलता चूती,
कठिन मान की हठ-समाधि-सी
खोज रही जो दूती।

सम्पुटिता होकर भी अलि को
धर न सकी नलिनी-सी,
अथवा शून्य-वृन्त पर उड़कर
मँडराई अलिनी-सी।

चंद्रोदय की बाट जोहती
तिमिर—तार—माला सी।
एक एक ब्रज-बाला बैठी
जागरूक ज्वाला-सी।

—द्वापर

'प्रिय प्रवास' में आकर उपाध्याय जी का दृष्टिकोण बदल गया। वे आधुनिक परिस्थितियों से भी प्रभावित हैं। उद्धव के द्वारा उन्होंने भी योग की थोड़ी चर्चा कराई है, पर कृष्ण के प्रेमी हृदय का वर्णन करके उन्होंने अन्य कवियों से अधिक परिमाण में 'तुल्यानुराग' की प्रतिष्ठा की है। सूर के कृष्ण को किसी-किसी ने अत्यन्त निष्ठुर बतलाया है। देखा जाय तो सूर के कृष्ण भी गोपियों से मिलने में चाहे किसी कारण से विवश हों, पर उनसे विमुख नहीं थे। उद्धव से उन्होंने स्पष्ट ही कहा था, 'सूर चित तें टरत नाहीं राधिका की प्रीति।' रत्नाकर के कृष्ण ने तो अपनी विरह-व्यथा "नैकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं रही-सही सोऊ कहि दीन्ही हिचकीन सौं।" हरिऔध जी के कृष्ण कुछ अधिक व्यथित हैं, यद्यपि उनकी दृष्टि में प्रेम की अपेक्षा कर्त्तव्य का मूल्य अधिक है। विश्व का प्रेम उन्हें व्यक्तिगत प्रेम से अधिक प्रिय है। कृष्ण लोक-सेवा में व्यस्त हैं, अतः नहीं आ सकते। उनकी गोपियाँ नन्ददास की भाँति तर्क नहीं करतीं, अबुध अबला बतला कर अपने को योग की अनधिकारिणी समझती हैं, अपनी त्याग-शक्ति की चर्चा करती हुई उद्धव का ध्यान 'रोने-धोने विकल बनने दग्ध-होने न सोने' की ओर ले जाकर प्रेम की गरिमा उन्हें समझाना चाहती हैं। राधा भी 'निर्लिप्ता और संयता' होने पर कृष्ण के लिए अपनी व्याकुलता व्यक्त कर ही देती हैं—'मैं नारी हूँ, तरल उर हूँ, प्यार से वञ्चिता हूँ।' फिर भी वे बहुत ऊँची उठती हैं। वे अपने दुःख से नहीं, व्यथित व्रजवासियों के दुःख से दुःखी हैं। कृष्ण के गुणों का भी 'प्रिय-प्रवास' में विकास हुआ है। बार-बार उनकी शिष्टता, विनोद, सेवा, दयालुता, प्रेम-भावना आदि की चर्चा हुई है।

राधा-कृष्ण प्रेम की परम्परा में उपाध्याय जी के नायक-नायिका में अन्य कृष्ण-प्रेमी कवियों के कुछ गुण परिष्कृत रूप में पाए जाते हैं। विद्यापति का अनुराग उनकी राधा में है और संयत रूप में, सूर की सगुणोपासना उनमें है और अधिक व्याख्या के साथ। नन्ददास की मस्तिष्क-प्रधानता भी उनमें है जो मोह और प्रणय के अन्तर के वर्णन में प्रकट हुई है।' 'रत्नाकर' जी की भाँति उनकी गोपियाँ अनन्य अनुरक्ता भी हैं, यहाँ तक कि एक स्थान पर तो बहु-विवाह-प्रथा का समर्थन भी उन्होंने अदूरदर्शिता से किया है।

दूसरी ओर विद्यापति की मधुरता उपाध्याय जी को प्राप्त नहीं है, सूर की सी भावों की अनंतता उन्हें नहीं मिली, नन्ददास के तर्कों से भी वे वञ्चित हैं और रत्नाकर के से सजीव अनुभाव-चित्रण की भी उनमें कमी है। फिर भी उपाध्याय जी की दो बड़ी विशेषताएँ हैं—मर्यादा और सेवा-भावना, जिनकी ओर अन्य कवियों का ध्यान नहीं गया।

ब्रजवासियों के प्राण कृष्ण कंस के निमन्त्रण पर अक्रूर के साथ मथुरा चले जाते हैं और फिर लौट कर नहीं आते। उनके इस 'प्रवास' का वर्णन ही इस ग्रन्थ का विय है; अतः इसका नाम 'प्रिय-प्रवास' रखा गया है।

प्रिय प्रवास के मुख-पृष्ठ पर ही 'भिन्नतुकांत कविता का एक महाकाव्य' लिखा मिलता है। यह वाक्यांश उपाध्याय जी की साठ पृष्ठों की भूमिका का सार या प्रिय-प्रवास के गले का तावीज अथवा ढोल है। नायक, छन्द, सर्ग, रस, वर्णन की आवश्यकताओं की पूर्ति साकेत की भाँति यों इसमें भी है। राधा-कृष्ण जैसे लोकप्रिय व्यक्ति नायक नायिका हैं, सप्तदश जिसमें सर्ग हैं, घुमा फिरा कर सात छन्दों का जिसमें प्रयोग है, शृंगार और करुण की जिसमें प्रधानता है, नगरी (मथुरा) सरिता (यमुना), सारी ऋतुओं, दिवस-रात्रि के सभी प्रहरों और न जाने कितने वृक्षों, लताओं, पुष्पों और पक्षियों के जिसमें वर्णन हैं; पर प्रबन्ध के नाम प्रिय-प्रवास साकेत से भी आगे बढ़ा हुआ है—उसका अग्रज जो है। साकेत में तो आठवें सर्ग से ही प्रबन्ध खंडित मिलता है, पर प्रिय-प्रवास में उसका प्रारम्भ सातवें सर्ग से ही कर दिया है। साकेत में द्वादश सर्ग पर यह बात समाप्त हो जाती है, पर प्रिय-प्रवास में यह 'रोना-धोना' सत्रहवें सर्ग तक अर्थात् दस सर्गों में चलता है। उपाध्याय जी संक्षेप-प्रिय व्यक्ति नहीं हैं। प्रथम पाँच सर्गों में जिनमें कथा बँधकर चलती है केवल एक रात की घटनाएँ वर्णित हैं। यह बात नहीं है कि उपाध्याय जी ने कृष्ण-चरित्र संबन्धी घटनाओं की उपेक्षा की हो। कृष्ण के जन्म, उनके बड़े होने, घुटने चलने, दौड़कर गोद में आने, क्रीड़ा करने के विवरण बड़े विस्तार से दिये हैं। कालिनाग, दावानल, गोबर्धन-धारण, अघासुर, व्योमासुर आदि की कथाएँ जितना स्थान घेर सकती थीं, उतने से कम में फैल-फूट कर नहीं बैठी हैं। रास का वर्णन पूरे रस के साथ किया है।

भ्रमर-गीत भी परिवर्तित रूप में आया है। नंद, यशोदा, राधा, गोपियों, सखाओं, वृद्धों की वियोग-दशा का चित्रण भी पूर्ण मार्मिकता के साथ मिलेगा। पर उपाध्याय जी का यदि यह विचार रहा हो कि जब वर्णन करना है तब आगे लिख दिया तो क्या और पीछे लिख दिया तो क्या, प्रत्येक दशा में महाकाव्य बन जाता है, सो नहीं। पिछले दस सर्गों के वर्णन जिनमें कृष्ण की युवाकाल तक की प्रमुख घटनाएँ सम्मिलित हैं, 'वियोग' के अन्तर्गत आते हैं और उसके अधीन होने से स्वतन्त्र कथानक और प्रबन्ध की शक्ति उनसे छिन-जाती है। अत; 'प्रिय-प्रवास' भी 'साकेत' की भाँति महाकाव्य नहीं।

यह काव्य-ग्रन्थ संस्कृत के वर्ण-वृत्तों में लिखा गया है। इसमें उन्होंने मालिनी, मन्दाक्रांता, वंशस्थ, वसंततिलका, द्रुत-विलंबित, शार्दूल-विक्रीड़ित तथा शिखरिणी सात छन्दों का प्रयोग किया है। कविता अन्त्यानुप्रासहीन (अतुकांत) है, यह ठीक है; पर भिन्न तुकांत होने से किसी तुकांत ग्रन्थ से इसका माधुर्य कम नहीं। गणों में बन्धन चाहे कितना ही हो, पर एक-एक पंक्ति उस बन्धन की तपस्या में निखर कर खराद पर तराशी जाकर, एक विचित्र गति और माधुर्य झलका देती है। छन्दों में माधुर्य भरने के लिए उपाध्याय जी ने भी कम प्रयत्न नहीं किया। छन्द तो ढाँचा है। सार-वस्तु शब्द हैं। भाषा में जितना लालित्य संभव था, उन्होंने भरा है। इसके लिये अनुप्रास का हृदय खोल कर उपयोग किया है। पंचदश सर्ग के मध्य में तो उन्होंने धूम मचा दी है।

सानुस्वार शब्दों के प्रयोग से भी कहीं-कहीं गूंज भरी है—

> **कलोलकारी खग-वृंद 'कूजिता,**
> **सदैव सानंद मिलिंद-गुंजिता।**
> **रहीं सुकुंजें वन में विराजिता,**
> **प्रफुल्लिता, पल्लविता, लतामयी।**

कहीं-कहीं तुक—यद्यपि अपवाद स्वरूप ही—चारों पंक्तियों तक में विद्यमान है—

विपुल—ललित—लीला—धाम आमोद—प्याले,
सकल-कलित—क्रीड़ा औ कला में निराले,
अनुपम वनमाला को गले बीच डाले,
कब उमग मिलेंगे लोक लावण्य वाले ।

भाषा प्रिय-प्रवास की संस्कृतगर्भित है। पंक्तियाँ दीर्घ समासों से लदी हुई हैं। प्रधानता संस्कृत के तत्सम प्रयोगों की है, पर साथ में ब्रजभाषा के अनेक शब्दों जैसे सुअन, ढिग, सिगरी, बेंड़ी, बिसूरना, बगरना, भाखना, फ़ारसी अरबी के कुछ चलते शब्दों जैसे गरीबनि (अ०) दिलजले (फा०) ताब (फ़ा०) के प्रयोग हैं। इन पर कोई आपत्ति नहीं। फिर भी संस्कृत के ऐसे सीधे प्रयोग जैसे आदौ, उरसि, स्वछायया खटकते हैं, गद्य के ऐसे प्रयोग जैसे इसलिए, के लिये, अतः; शनैः शनैः, पुनः पुनः, वस्तुतः, प्रायः, यथातथ्य रूखे लगते हैं, शब्दों के रूपों का ऐसा तोड़ना जैसे नहिं, बैसि, बिच, अच्छा नहीं लगता, मात्राओं का ऐसा बढ़ाना जैसे 'शशी' 'पत्ती' 'वृत्ती' कोई सौंदर्य-वृद्धि नहीं करता और छन्द-भंग न होने देने के लिये ऐसे शब्दों को अपनाना जैसे पै, लौं, बौं, रुचिकर नहीं, या शब्दों को इकठे, अकले, लौटाल रूप में विकृत करना किसी दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं। अपने शब्दों के प्रयोग पर उपाध्याय जी ने एक बहुत बड़ा तर्क यह उपस्थित किया है कि अन्य लेखक क्योंकि इस प्रकार के (अशुद्ध) प्रयोग करते हैं; अतः वे भी कर सकते हैं। उपाध्याय जी पद्य में भी वाक्य को पूर्णरूप में लिखने के अभ्यासी हैं। प्रत्येक पंक्ति में या फिर जहाँ वाक्य समाप्त होता है 'था' 'थी', 'है' लिखा अवश्य मिलेगा। कभी-कभी तो यह सन्देह होने लगता है कि उपाध्याय जी पहिले गद्य में सोचते हैं फिर पद्य में लिखते हैं। उनके वाक्यों का अन्वय सरलता से हो जाता है। निम्न-लिखित पंक्तियों पर दृष्टि डालिये—

(अ) कोई उन्हें न सकता कर था कभी भी।
वे कार्य औ बरस द्वादश की अवस्था।

(आ) विलोक आता उनको प्रफुल्लिता ।
महा हुई, गोप-कुमार मंडली ।

(इ) यक दिन वह था औ एक है आज का भी।

कहीं-कहीं शब्द भाव को प्रकट करने में असमर्थ हैं—

यदि पथिक 'दिखाता' तो यही पूछती थीं।
प्रिय सुत गृह आता क्या कहीं था दिखाया।

प्रिय-प्रवास में एक दर्जन स्थानों पर छन्दोभंग है। लघु को दीर्घ और दीर्घ को लघु पढ़ने की प्रथा है, लालित्य-रक्षा के लिये स्वरूप परिवर्तन करने में दोष नहीं, आदि तर्कों के स्थान पर उन शब्दों के पर्यायों का प्रयोग कर देना था या फिर भाव को अन्य शब्दों में व्यक्त करना था—

(१) **सकल 'कामिनी' की कल-कण्ठता।**
(२) **देखा विहार इस 'यामिनी' में जिन्होंने।**
(३) **कैसे ऊधो कुदिन 'अवनि' मध्य होते बुरे हैं।** (**पंचम संस्करण**)

रूप-गुण सम्पन्ना राधा इस काव्य की नायिका हैं। उपाध्याय जी के रूप-वर्णन में कोई नवीनता या विशेषता तो नहीं। चिर-परिचित उपमानों के सहारे एक सुन्दरी बालिका का आभासमात्र उन्होंने दिया है—राकेन्दु विम्बानना, मृगदृगीं, सोने सी कांति, कंज से दृग, आदि। 'काली कुञ्चित लम्बमान अलकें' कहते ही एक दृश्य क्षणभर के लिये नेत्रों के सामने घूमता है, पर तुरन्त विलीन हो जाता है। 'लोल-कटाक्षपात-निपुणा' तथा 'भ्रू भंगिमा पण्डिता' के विशेषण प्रिय-प्रवास की राधा के व्यक्तित्व के अनुकुल नहीं पड़ते, क्योंकि उपाध्याय जी ने अपनी राधा को वहीं 'सद्' के बोझ से लाद दिया है—यहाँ तक कि वस्त्र और अलंकारों के साथ भी यह चिपका हुआ है—सद्वस्त्रा, सदलंकृता, सच्छास्त्रचिंतापरा, सद्भावातिरता, सत्प्रेम-सम्पोषिता आदि।

राधा की स्थिति यह है कि उसके पिता और कृष्ण के पिता घनिष्ठ मित्र थे। बाल्वकाल में ये दोनों शिशु साथ-साथ बढ़े, खेले और फिर प्रेम में पगे। राधा ने अपना हृदय कृष्ण को अर्पित किया और मन में उन्हें पतिरूप से

प्राप्त करने की कामना की। ठीक इसी समय कृष्ण कभी न लौटने के लिए मथुरा चले गये। राधा ने यह रात तड़प-तड़प कर काटी। अधीरता मिश्रित आश्वासन, आशङ्का, प्रेम, व्याकुलता की व्यंजना एक साथ करने वाली इन दो पंक्तियों के अंतर में राधा के अंतर के दर्शन कीजिए—

प्रिय स्वजन किसी के क्या न जाते कहीं हैं ?
पर हृदय न जाने दग्ध क्यों हो रहा है ?

पवन-दूत में राधा के अंतर की पीड़ा, मर्यादा और सहृदयता तीनों पूरी-पूरी व्यक्त हुई हैं। अपने संदेश की उन्हें चिंता है अवश्य, पर उससे अधिक ध्यान है पवन की असावधानी से 'लज्जाशील युवति' के विकृत-वसना होने का, भ्रमर-भ्रमरी के रस-पान की बाधा का, क्लान्ता कृषक-ललनाओं का, रोगी पथिकों का तथा ढीठ भौंरों से परेशान बालाओं का। कृष्ण को अपनी दशा बतलाने के जो उपाय राधा ने पवन को बतलाए हैं वे बड़े मार्मिक तो हैं, पर इच्छा होती है कि पवन के सामने भी वे केवल व्यंजना से काम लेते। मार्मिक स्थलों पर पाठकों की बुद्धि पर भी थोड़ा विश्वास करना चाहिए—

कोई प्यारा—कुसुम कुम्हला भौन में जो पड़ा हो।
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू।
यों देना ए पवन, बतला फूल सी एक बाला।
म्लाना हो हो कमल-पग को चूमना चाहती है।

उद्धव के सामने अपनी शिष्टता, सौम्यता, संयम और स्नेह का परिचय राधा ने बड़े उपयुक्त ढंग से दिया है। एक स्थल पर राधा ने कृष्ण-प्राप्ति की आकांक्षा को जगत-हित-कामना से प्रबल बतला दिया है। इस पर एक आदर्शवादी चट से आक्षेप कर बैठे। पता नहीं ऐसे व्यक्ति इस पृथ्वी पर रहते हैं या सीधे ब्रह्मलोक से उतर कर आलोचना करने आते हैं। पहिले तो हृदय में किसी कामना का होना और उसके अनुरूप काम करना दो बातें हैं। फिर राधा के हृदय का घाव भी अभी पूरा नहीं भरा है और उसके शरीर में हृदय के स्थान पर पत्थर का टुकड़ा भी नहीं है—

मैं नारी हूँ, तरल-उर हूँ, प्यार से वंचिता हूँ!
जो होती हूँ विकल विमना-व्यस्त वैचित्र्य क्या है?

प्यार और लोकहित-भावना के दोनों कूलों का स्पर्श करती हुई राधा की भाव-धारा बही है। हृदय से तो वे यही चाहती हैं कि श्यामघन से मिलन हो जाता, पर प्रेम के लिए प्रिय को कर्त्तव्य से विमुख नहीं करना चाहतीं। प्रेम और कर्त्तव्य में जहाँ संघर्ष उपस्थित हो, व्यष्टि और समष्टि की हित-कामना में से जहाँ एक को चुनना पड़े, वहाँ अपने स्वार्थ की बलि दे देनी चाहिए। राधा ने यही किया है। सच्चे प्रेमियों ने सदैव ऐसा ही किया है। हम भी राधा से यही आशा करते हैं। उसके प्रेम की शोभा इसी में थी।

प्रेम की पीड़ा उसके व्यक्तित्व को दबा नहीं पाती, यह उसके व्यक्तित्व का महत्व है। प्रेम में निराश होकर जो अकर्मण्य बन जाता है, उसे मैं बहुत छोटा आदमी समझता हूँ। ऐसे प्राणी के प्रति दया चाहे कितनी ही उत्पन्न हो, आकर्षण उत्पन्न नहीं होता। शरत् के देवदास में पार्वती जितनी महान् प्रतीत होती है, देवदास क्या उसका आधा भी आकर्षक लगता है? देवदास ने केवल प्रेम का निर्वाह किया है, पार्वती ने प्रेम और कर्त्तव्य दोनों का। देवदास केवल घुल-घुल कर मरना जानता था, पार्वती घुल-घुल कर जीना? देवदास घुलने वाले प्रेम की मोमवत्ती है, पार्वती उस बत्ती की शिखा- जो जलती है, जलाती है, पर प्रकाश भी फैलाती है। देवदास जैसे अकर्मण्य प्रेमी (Passive lover) के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है, पर पार्वती के प्रति श्रद्धा। दुःख दोनों में किसी का कम नहीं है। राधा 'पारो' से भी महान् है। उससे भी तीखी पीड़ा को जहाँ उसने पिया है, वहाँ अपने कर्त्तव्य के क्षेत्र को विस्तृत भी रखा है। नंद, यशोदा, गोप-बालाओं, गोपों में से ऐसा कौन है जिसके दुःख को अपनी सेवा से उसने कम नहीं किया? पशु, पक्षी, कीट, पतंगों तक उसकी ममता विस्तृत है। पर राधा की आन्तरिक पीड़ा इतनी मर्म-स्पर्शिणी है कि वह पाठक की वरौनियों में आँसू बन कर झलकती है—

हो उद्विग्ना परम जब यों पूछती थीं यशोदा,
क्या आवेंगे न अब ब्रज में जीवनाधार मेरे?

तो वे धीरे मधुर-स्वर से हो विनीता बतातीं,
हाँ आवेंगे, व्यथित-व्रज को श्याम कैसे तजेंगे ?

आता ऐसा कथन करते वारि राधा दृगों में,
बूँदों बूँदों टपक पड़ता गाल पै जो कभी था।

जो आँखों से सदुख उसको देख पातीं यशोदा,
तो धीरे यों कथन करतीं खिन्न हो तू न बेटी ॥

राधा और उर्मिला बीसवीं शताब्दी के समान प्रतिभाशाली दो हिन्दी कवियों की तूलिकाओं से चित्रित दो करुण-मधुर चित्र हैं। उन दोनों में समता इतनी है कि वे दोनों प्रेमिकाएँ हैं, दोनों विरह-व्यथिता हैं। परन्तु दोनों की स्थिति भिन्न होने से दोनों का विकास दो भिन्न मार्गों से हुआ है। राधा कुमारी है, संयत प्रेमिका है; उर्मिला विवाहिता है, घर की स्वच्छन्द रानी है। कृष्ण के मथुरा गमन से पहिले की उन क्रीड़ाओं को उपाध्याय जी ने स्वीकार नहीं किया जिनका वर्णन विद्यापति और सूर ने विस्तार से किया है। राधा और कृष्ण बचपन से ही एक दूसरे के घर आते जाते थे; पर मर्यादा भंग कभी नहीं हुई। प्रणय का विकास हुआ है, पर कामनाएँ अंतर में ही घुमड़ती रही हैं। 'सविधि वरण' करने पर ही वे पूरी हो सकती थीं। उर्मिला को हँसी विनोद और 'परिरंभन' की स्वतंत्रता है। साकेत का प्रथम सर्ग इसी चित्रण में समाप्त हुआ है। अपने-अपने प्रेमियों के घर छोड़ने पर दोनों के छटपटाने अथवा मूर्छित होने में इतना अंतर है कि जहाँ उर्मिला सोचती है कि हाय लक्ष्मण अब बहुत दिन के उपरान्त मिलेंगे वहाँ राधा सोच भी नहीं सकती कि कृष्ण कितने दिन बाद मिलेंगे ? मिलेंगे भी अथवा नहीं। उर्मिला के विरह वर्णन में गुप्त जी ने गृहस्थी की एक-एक बात का यहाँ तक कि एकान्त की घटनाओं का भी उल्लेख किया है। उपाध्याय जी वैसा नहीं कर सके, क्योंकि उनकी राधा को यह सौभाग्य प्राप्त ही नहीं हुआ। उसके हृदय में केवल दर्शन की उत्कण्ठा है। लक्ष्मण लौट कर आते हैं तो उर्मिला यौवन-हानि के थोड़े खेद के साथ उन्हें भेंटकर धन्य हो जाती है, और कृष्ण-सखा उद्धव आते हैं तो राधा विधि के विधान को स्वीकार

करती हुई जीवन भर कुमारी रहने के व्रत को पूर्ण करने का आशीर्वाद माँगती है। उर्मिला ने यौवन का अनुभव किया, थोड़ा खोया और फिर उमंग को प्राप्त किया, पर राधा ने कभी यह जाना ही नहीं कि यौवन कब आया और कब चला गया। दोनों कवियों ने अपनी-अपनी नायिकाओं का मानसिक विकास बहुत स्वाभाविक रखा है। उर्मिला की गति है वासना, वियोग और प्रेम-मानिनी, विरहणी और पत्नी; राधा की गति है प्रणय, तीव्रतर प्रणय और तीव्रतम प्रणय—प्रेमिका, वियोगिनी और लोक-सेविका। उर्मिला जब अपने पति को दुबारा प्राप्त करती है, तब तक उसके अरमान ढीले हो गए हैं, पर राधा का आन्तरिक आवेश अपने उच्चतर सोपानों पर चढ़ रहा है। अतः अपने संयत आवेग को यदि वह सेवा में परिवर्त्तित (Transfer) न करती तो जीवित न रहती, जीवित रहती तो विक्षिप्त हो जाती। जहाँ तक वर्णन का सम्बन्ध है वहाँ हमें उपाध्याय जी का वर्णन अधिक मार्मिक और स्वाभाविक प्रतीत होता है।

कृष्ण से मधुरतम 'पुरुष व्यक्तित्व की कल्पना संभवतः संसार के साहित्य में कहीं न हुई हो। सभी कवियों की भाँति उपाध्याय जी के कृष्ण भी परम सुन्दर, सुकुमार, कला-प्रिय, सरस-हृदय गुणवान् व्यक्ति हैं। वे महापुरुष हैं। क्या नन्द, क्या यशोदा, क्या गोप, क्या आभीर और क्या गोपियाँ सब उन्हें उनके गुणों के कारण स्मरण करते हैं। प्रिय-प्रवास में कृष्ण का चरित्र इतना व्यक्त नहीं हुआ, जितना वर्णित हुआ है। प्रथम सर्ग में वंशी बजाने की उनकी निपुणता का परिचय ही हम काव्य-मञ्च पर पाते हैं, या फिर विदा होते समय यशोदा मा के चरण-स्पर्श करते उन्हें देखते हैं और थोड़ा उद्धव को विदा करते समय अपने प्रेमी हृदय का परिचय देते। कृष्ण अधिकतर पट के पीछे ही रहते हैं। इतने पर भी उनका पूरा स्वरूप झलक जाता है। इस गुण वर्णन में भी जाति, देश और लोक-हितकारी का उनका रूप बहुत प्रमुख है। संभवतः यह आधुनिक समय की माँग की प्रतिध्वनि है।

(अ) स्वजाति औ जन्म-धरा निमित्त मैं,
न भीत हूँगा विषकाल सर्प से।

(आ) प्रवाह होते तक शेष-श्वास के,
स-रक्त होते तक एक भी शिरा।
स-शक्त होते तक एक लोम के,
किया करूँगा हित-सर्वभूत का।

कृष्ण को महापुरुष के रूप में चित्रित करने के लिये जैसे उनमें सर्वभूत-हित-रत गुण की वृद्धि की है, उसी प्रकार गोपियों के साथ गो-रस सम्बन्धी छेड़छाड़ और चीर-हरण जैसी लीलाओं को छाँट दिया है। रास के वर्णन में केवल गोपियाँ ही नहीं, गोप भी हैं—पूरी विमोहित हुई यदि गोपिकाएँ, तो गोपवृन्द अति मुग्ध हुए स्वरों से। कृष्ण सम्मिलित हैं। सबके पास आकर सरस बात करते हैं, पर क्रीड़ा गोप-गोपियों में ही हो रही है। गोपियाँ पुष्प वर्षा करती हैं तो 'प्रिय अङ्क में'; गोप 'स-पल्लव, स-पुष्प मनोज्ञ शाखा' भेंट करते हैं तो अपनी प्रेमिकाओं के कर में। कृष्ण प्रकृति में अपनी दृष्टि दौड़ाते हुए सतीत्व-महिमा की घोषणा करते हैं—

(१) वे भाखते पति-रता-अवलम्बिता का,
कैसा प्रमोदमय जीवन है दिखाता।
(२) थे यों ब्रजेन्दु कहते ललना-सती का,
स्वामी बिना सब तमोमय है दिखाता।

अलौकिक घटनाओं की कहीं-कहीं तो कवि ने व्याख्या कर दी है जैसे उँगली पर गोवर्धन धारण करने का उन्होंने यह अर्थ लगाया है कि घोर वर्षा में गिरि-गुहाओं में दौड़ कर कृष्ण ब्रजवासियों की सुविधा का विधान इस त्वरा से कर रहे थे कि 'सकल लोग लगे कहने उसे, रख लिया उँगली पर श्याम ने।' यहाँ एक मुहावरे की चाल से ही उपाध्याय जी ने मात कर दिया। पर जादू तो सर पर चढ़कर बोलता है। अलौकिकता कहीं-कहीं आ ही गई है जैसे काली के शीश पर खड़े होने में—

फणीश शीशोपरि राजती रही,
सुमूर्त्ति शोभामयि श्री मुकुन्द की।

इस महापुरुष का हृदय भी पीड़ित है। परमात्मा के साथ भी निरंकुश व्यवहार करने वाले प्रेम की अपवादहीन निर्ममता आश्चर्य का विषय है। राम और कृष्ण दोनों को अपनी स्नेह-संगिनियों के साथ निष्ठुर व्यवहार करके जीवन भर चुप-चुप सिसकना पड़ा है। इस जगत में जो जितना बड़ा है, वह उतना दुःखी है। कृष्ण के हृदय में गोकुल की ममता है, माता-पिता की चिन्ता है, गोपियों की निर्मल स्मृति है, सखाओं की प्रीति है, और राधा के लिये अजस्र आँसुओं का निर्झर है। राधा को जो सन्देश मिला है, उसमें ये पंक्तियाँ कितनी विकल हैं!

उत्कण्ठा के विवश नभ को भूमि को पादपों को,
ताराओं को, मनुज मुख को, प्रायशः देखता हूँ।

प्रिय-प्रवास में करुणा की जो सरिता बही है, उसमें सब से पृथुल धारा यशोदा के शोक की है। कृष्ण जिस प्रभात में गमन करने वाले हैं, उसकी पूर्व रात्रि यशोदा कुल-देवता और जगदम्बा की प्रार्थना में ही बिताती हैं। कृष्ण की शय्या के पास बैठ कर वे ज़ोर से रो भी नहीं सकतीं। सिसकती जाती हैं, विनय करती जाती हैं और बार-बार धीरे से चादर हटा कर सुत का भोला मुखड़ा देखती जाती हैं। प्रेम अनेक आशङ्काओं को जन्म देता है और प्रत्येक आशङ्का पर माता का हृदय सिहर उठता है। बिदा करते समय छोटी से छोटी बातों की चिन्ता में माता की ममता देखी जा सकती है।

यशोदा की प्रतीक्षा अत्यन्त स्वाभाविक ढंग पर चित्रित हुई है। पुत्र के लिये फलों, मेवों और विभिन्न पकवानों को सँभालकर रखने से अधिक मा का वात्सल्य और किस बात से प्रकट हो सकता था? ज़रा सी आहट पर चौंक पड़ना, किसी को आते देख कर अन्तर का आशा से भर जाना और उसके निकल जाने पर उर का धक-धक करने लगना, कृष्ण की स्मृति को उभारने वाले नित्य कर्मों के दुहराए जाने पर उन्हें किसी बहाने से रोकना आदि ऐसी बातें हैं जिनसे पता चलता है कि कवि माता के अन्तर में सहज-भाव से बहुत गहरा उतर गया है।

यदि दधि मथने को बैठती दासियाँ थीं,
मथन-रव उन्हें था चैन लेने न देता।
वह यह कह के ही रोक देती उन्हें थीं,
तुम सब मिलके क्या कान को फोड़ दोगी ॥

यशोदा-उद्धव प्रसङ्ग में भूत, वर्त्तमान, भविष्य की कितनी स्मृतियाँ, पीड़ायें और विफल आशाएँ मूर्त्तिमती हो गई हैं! कृष्ण की क्रीड़ाओं के स्मरण, उनके सुख की अपार चिंता, छिन्न आकांक्षाओं की अपूर्त्ति, जड़-चेतन वस्तुओं से भावोद्दीपन की तीव्र अनुभूति आदि में जो यशोदा का हृदय बहा है, वह घने शोक के एक सूने वातावरण की सृष्टि हमारे अन्तर में कर जाता है। प्रगाढ़ ममता की दुर्बलता में क्षण भर को यशोदा के हृदय में देवकी के प्रति ईर्ष्या जगती है—होता जाता मम तनय भी अन्य का लाड़ला है; पर माता की उज्ज्वल उदारता तुरन्त उस भाव को दबा देती है—हा, ऐसी ही व्यथित अब क्यों देवकी को करूँगी?

काव्य के अंत में यशोदा को 'व्यथिता, मूर्छिता और विपन्ना' दिखाकर कवि ने एक भग्न-हृदय को करुणा के निराधार शून्य में सदैव के लिए लटकता छोड़ दिया है।

यशोदा के दुःख का समकक्षी ही नन्द का दुःख है। कंस के निमंत्रण पर सुनसान निशीथ में मुख पर हाथ रखकर चिंतामुद्रा में बैठने, व्याकुलता से निर्जन कक्ष में घूमने, उच्छ्वास फेंकने, चुपचाप आँसू ढलकाने से ही पिता से दुःख का चित्रण बिना एक शब्द के उच्चारण कराए हुआ है। अपने पुत्रों को मथुरा पहुँचा कर गोकुल लौटने का कठोर काम भी नन्द को ही करना पड़ा। कृष्ण की सेवाओं का स्मरण कर वे भी उनके वियोग में तड़पते दिखाये गए हैं। उन्हें कवि ने संयत और गंभीर रखा है। वह सम्भवतः उनके पुरुष होने का दण्ड है। पर इससे उनकी व्यथा और गहरी हो गई है, इसमें सन्देह नहीं।

प्राकृतिक छटाओं का विभाजन उपाध्याय जी ने इस ढंग से कर लिया है कि इससे उनके काम में भी सहूलियत हो गई है, भाव-प्रसार को भी

अयकाश मिला है और किसी को यह शिकायत भी नहीं हो सकती कि कहने के लिए कुछ रह गया है। यह विभाजन इतना स्पष्ट (Obvious) है कि उसे पाने के लिये 'गहरे पानी पैठ' की आवश्यकता नहीं है। प्रथम सर्ग 'संध्यापटी' पर अंकित है। दूसरे सर्ग का प्रारम्भ जब होता है तब 'द्विघटी निशा' गत होचुकी थी। तृतीय सर्ग 'अर्द्ध-रात्रि' को लेकर चलता है। चतुर्थ सर्ग रात्रि के 'चतुर्थ (अंतिम) प्रहर' में समाप्त होता है। पञ्चम सर्ग में स्वभावतः 'छा गई व्योम लाली।' एकादश सर्ग में एक गोप 'निदाघ' का वर्णन करता है। द्वादश में एक आभीर के मुख से 'वर्षा' काल का दृश्य उपस्थित कराया गया है। चतुर्दश में एक गोपी 'शरद' की कमनीयता का उल्लेख करती है। और षोडश सर्ग में स्वयं कवि 'मधुमास' की शोभा दिखलाता है। रहे वृक्ष-लताएँ। यह काम नवम सर्ग को सौंपा गया है। वृक्षों में जम्बु, रसाल, कदम्ब, निम्ब, फालसा, निम्बू, आँवला, लीची, दाड़िम, नारिकेल, इमली, शिंशपा, इंगुदी, नारंगी, अमरूद, बिल्व, बदरी, सागौन, ताल, तमाल, केला, शाल्मली, अशोक, पारिजात, मधूक, पीपल, वट, पनस, आत के नाम आए हैं। वंशस्थ के एक-एक छन्द में वृक्षों के वंश का वर्णन है। यदि इस समय ये सब वृक्ष वहाँ एकत्र न मिलें तो कृष्ण के समय में अवश्य उग आए होंगे। इस विशद विरह वर्णन से पहिले ही उपाध्याय जी ने वृक्षों का वंश-वृक्ष दिया है जिसमें 'आत' जैसे आततायी या कम महत्वशाली पादपों के नाम छूट गये हैं; पर क्रम में गड़बड़ी नहीं है—

> **जम्बू, अम्ब, कदम्ब, निम्ब, फलसा, जम्बीर औ आँवला।**
> **लीची, दाड़िम, नारिकेल, इमली औ शिंशपा इंगुदी॥**
> **नारंगी, अमरूद, बिल्व, बदरी, सागौन शालादि भी।**
> **श्रेणीबद्ध तमाल ताल कदली औ शाल्मली थे खड़े॥**
> **ऊँचे दाड़िम से रसाल-तरु थे औ आम से शिंशपा।**
> **यों निम्नोच्च असंख्य—पादक—कसे वृंदाटवी बीच थे॥**

फिर इनकी प्रियाओं—मेधाविनी माधवी, प्रलोभनीया लवंगलतिका, असिता प्रियंगु, तपोरता रक्तिका, मंजुगुंजिका-लताओं का वर्णन है। अतिथियों

में एकाकी जीव भी हैं और सपत्नीक प्राणी भी, जैसे कलापी-केकिनी, कपोत-कपोती, शुक, पपीहा, सारिका, चकोरी, लाल, शाखामृग, (बन्दर) अरने, चीते, बैल, सुरभी। ब्रज-भूमि के प्रकृति-प्रांगण में शिशुओं की क्रीड़ा उद्धव जी ने कुछ काल के उपरान्त देखी। यह स्वाभाविक भी था। पञ्चदश सर्ग में जहाँ वे एक उन्मत्ता गोपी को कुञ्ज में घूमते देखते हैं, वहाँ सुमन-शिशुओं से उपवन-आँगन जगमगा रहा है। वहाँ बालक भी हैं, बालिकाएँ भी। नाम सुनिये—जूही, पाटल, चमेली, बेला, चम्पा, बंधूक, श्यामघटा, सूर्यमुखी। इनके अंग इतने खिल गये हैं कि भ्रमरों से इनकी छेड़छाड़ भी प्रारम्भ हो गई है। इसके अतिरिक्त 'क्षिति' का वर्णन 'पद-चिह्न' के रूप में, 'जल' का सर और सरिता (यमुना) के रूप में, 'पावक' का दावाग्नि के रूप में, 'गगन' का सन्ध्या, यामिनी, प्रभात के रूप में और 'समीर' का पवन-दूत के रूप में पाया जाता है ही।

दिवस के अवसान से यामिनी के अन्त तक के ही वर्णन प्रिय-प्रवास में इसलिए अधिक हैं कि काव्य का वातावरण विषादपूर्ण है। यह बात ध्यान देने की है उपाध्याय जी ने इन प्रहरों को 'तमस-निर्मित' रखा है। व्रजवासियों से कृष्ण को छुड़ाने वाली इस कृष्ण पक्ष की रात को कृष्ण-पक्ष की कैसे कहें ? बाह्य प्रकृति और आन्तरिक प्रकृति में सामञ्जस्य प्रिय-प्रवास में सर्वत्र है। प्रकृति मानवीय भावनाओं से कहीं एकाकार हो गई है, कहीं उसका अंग बन गई है। काव्य के प्रारम्भ में सन्ध्या का अत्यन्त सरल वर्णन है। उन प्रारम्भिक सोलह पंक्तियों में केवल 'वर्ण' और 'ध्वनि' को ही कवि ने भरा, पर ध्वनि हो ही रही है कि अचानक वंशी बज उठती है, दिशाओं में लालिमा मिलने नहीं पाई कि 'सजल-नीरद सी कल-कांति' वाले कृष्ण दिखाई पड़ते हैं। कृष्ण नेत्रों में छिपते हैं कि सन्ध्या का तम गाढ़ा हो जाता है और मुरली की ध्वनि जैसे धीरे-धीरे पवन में विलीन होती है वैसे नीरवता छाती जाती है। तम और नक्षत्रों की भावुकता-अभावुकता, जनविलोचन तथा कमल-लोचन की कमल-लोचन के लिए यह प्यास जिसमें आगे के कथानक का आभास भी है, कवि की गहरी आर्द्रता की परिचायिका **है**—

यह अभावुकता तम-पुंज की,
सह सकी नहिं तारक मंडली।
वह विकास-विवर्द्धन के लिये,
निकलने नभ-मंडल में लगी॥

तदपि दर्शक-लोचन-लालसा,
फलवती न हुई तिलमात्र भी।
नयन की लख के यह दीनता,
सकुचने सरसीरुह भी लगे॥

उपाध्याय जी ने प्रकृति का हृदय पहिचाना है। कृष्ण के मथुरा-गमन की हृदय-विदारक सूचना से पहिले प्रकृति में तम भर दिया है। कृष्ण-वियोग की चिन्ता में मग्न नन्द को दिखाने के पूर्व समीर शांत, पादप शांत, व्योम शांत, तारक शांत, दीपशिखा शांत, झींगुर शांत—सब शांत हैं। राधा उस रात कुछ अधिक विकल है। उनके चारों ओर दिशाएँ रो रही हैं, दीप-ज्योति मलिन पड़ गई है। व्योम के उर में पीड़ा की अनल-शिखाएँ फूट निकली हैं। और प्रभातकाल में जब तक कृष्ण बिदा हो भी नहीं पाते कि प्रकृति ओस-बिन्दुओं के रूप में रोती दिखाई गई है। नन्द के प्रत्यागमन पर सूर्य पहिले से ही काँपता हुआ निकलता है।

ऐसी प्रकृति के अन्तर में सहानुभूति की स्थापना स्वाभाविक थी जिसका बहुत सुन्दर उपयोग उपाध्याय जी ने पवन को लेकर उसी प्रकार किया, जिस प्रकार कालिदास के यक्ष ने मेघ को लेकर। कालिदास की भाँति ही उपाध्याय जी ने अपने दूत का पथ-निर्देश किया और स्थान परिचय कराया और साथ ही संकेतों से उसे दशा-निवेदन का काम सौंपा। वृक्षों, बेलियों और पुष्पों के वर्णन में अस्वाभाविकता केवल इतनी है कि उन्होंने ताँता बाँध दिया है। नहीं तो उनके रूप, रंग, आकार और गुणों से पूरी जानकारी प्रकट की है। ऋतुओं के वर्णन भी सकारण हैं। ग्रीष्म-वर्णन दावाग्नि के समय किया है, वर्षा का वर्णन गोवर्द्धन-धारण की घटना के समय, शरद का वर्णन रासलीला के पूर्व और वसन्त का वर्णन उद्धव-राधा के परिचय के

समय। शरद ऋतु जैसे अपनी अनुकूलता से सुहानी बनी, ग्रीष्म और वर्षा जैसे अपनी भयङ्करता से विकराल प्रतीत हुईं, उसी प्रकार वसन्त अपनी प्रतिकूलता से पीड़ादायक सिद्ध हुआ। ऋतुओं के इन वर्णनों में उनकी समस्त विशेषताएँ शब्दों की कर्कशता, आर्द्रता, कमनीयता और मधुरता के सहारे प्रदर्शित की गई हैं।

(अ) तवा समा थी तपती वसुन्धरा,
स्फुलिंग वर्षारत तप्त-व्योम था। (ग्रीष्म)

(आ) जलद थे दल के दल आरहे,
उमड़ते, घिरते, ब्रज घेरते। (वर्षा)

(इ) अत्युज्ज्वला पहन तारक-मुक्ता माला
दिव्यांबरा बन अलौकिक कौमुदी से।
शोभाभरी परम मुग्धकरी हुई थी,
राका-कलाकार-मुखी रजनी-पुरन्ध्री (शरद)

(ई) सुकोपलें थीं तरु-अंक में लसी,
स-अङ्गरागा अनुराग—रंजिता। (वसंत)

आलंकारिक रूप में प्रकृति का उपयोग जैसे सब करते हैं, वैसे ही उपाध्याय जी ने भी किया है। प्रकृति को कृष्ण-वियोग में खिन्न तो दिखाना था ही, पर उसे कहीं-कहीं उदासीन (indifferent) भी चित्रित किया है—जैसे पञ्चदश सर्ग में गोपी की व्यथा को बहुत से विकसित पुष्प नहीं समझ पाते। सब से बड़ा काम उपाध्याय जी ने प्रकृति से यह लिया कि उससे ब्रजवासियों के हृदय के घाव को भरवाया। इसी के सहारे राधा को अपूर्व शांति मिली है। प्रकृति में कृष्ण के अंग-प्रत्यंग की शोभा के दर्शन से जहाँ अन्य विरहिणियों को पीड़ा होती, वहाँ राधा के उर में आनन्द का स्रोत फूट पड़ता है—

तेरा होना विकल दयिते बुद्धिमत्ता नहीं है
क्या प्यारे की वदन-छवि तू इन्दु में है न पाती ?

प्रत्येक कलाकार की अपनी कमियाँ होती हैं। कृष्ण के जीवन की सारी घटनाओं को दुहराने की आकांक्षा को पूर्ण करने के लिये उन्हें अनेक पात्र नियुक्त करने पड़े हैं। उद्धव से एक पात्र अपनी कथा समाप्त करता है कि दूसरा छेड़ देता है। इससे चाहे ब्रजवासियों की शिष्टता (Ettiquette) और कृष्ण के प्रति उनकी व्यापक ममता का पता चलता हो, पर बातों का तार न टूटने से एक प्रकार की उकताहट (Monotony) उत्पन्न होती है। कहीं-कहीं कवि पंक्तियों के भीतर से निकल कर एक घटना को दूसरी से जोड़ता प्रतीत होता है। इससे कला-भावना पर निश्चय आघात पहुँचता है—

आओ आओ, सहृदय-जनो सङ्ग आभीर छोड़ो।
देखो बैठी सदन कहतीं क्या कई कामिनी हैं॥

रोते-रोते विपुल तिय की लाल आँखें हुई हैं।
जो रोती है कथन पहले हूँ उसी का सुनाता॥

इस ग्रंथ की भाषा यद्यपि कहीं-कहीं अपरिचित सी लगती है, फिर भी उपाध्याय जी ने आभीर आदि को बुलवाते समय अथवा करुणा के अधिक आवेश में उसे अपेक्षाकृत सरल कर दिया है। मोह और प्रणय में सूक्ष्म विस्तृत अंतर दिखलाना तथा नवधा भक्ति की अपने भावानुकूल व्याख्या करना राधा की आयु के बहुत अनुकूल चाहे पड़े अथवा नहीं, पर उद्धव जैसे ज्ञानी व्यक्ति को बच्चों की भाँति समझाने की आवश्यकता नहीं थी। प्रिय-प्रवास को पढ़ने से इतना पता अवश्य चलता है कि कवि का हृदय अत्यन्त कोमल है। उपाध्याय जी, गुप्त जी की टक्कर के ही कवि हैं और प्रिय-प्रवास साकेत से किसी बात में कम नहीं है। सर्ग की दीर्घता को ठीक रखने के लिए कवि ने पात्रों के मुख से विरह-व्यंजना तो आवश्यकता से अधिक कुछ दूर तक अवश्य कराई है; पर वैसे छन्द, भाषा, भाव गुप्त जी के समान ही उसकी उँगली पर खेलते हैं। अभिव्यक्ति को सबल बनाने के साधन भी उसके पास पर्याप्त हैं। प्रथम सर्ग में कवि ने प्रकृति के बीच अपने नायक को दिखाकर यह प्रत्यक्ष किया है कि ब्रजवासी किस सहज-भाव से प्रकृति के अंचल में पले

थे। वहाँ प्रकृति और प्राणी एक ही वस्तु के दो अंग प्रतीत होते हैं। वर्णन करते समय कवि की दृष्टि प्रकृति पर भी है और प्राणियों पर भी। वह भावों में बहकर न पृथ्वी को भूलता है और न आकाश को। वहाँ वंशी-वादन का आयोजन है। बहुत से प्राणी एकत्र हैं, पर कवि ने किसी को बोलने का अवसर नहीं दिया। केवल वातावरण का चित्रण अपने में पूर्ण और विलक्षण है। आगामी घटनाओं की सूचना भी कहीं वातावरण की उदासी और कहीं पात्रों की आशंकाओं के द्वारा दी है। कृष्ण की विदाई पर ब्रज-वासियों के साथ कृष्ण के तोते और उनकी गायों की विकलता प्राणियों की विकलता में मिलकर उसे घनीभूत कर गई है। दृश्य और वस्तु-वर्णन में भी उपाध्याय जी को पूरी सफलता मिली है। ऋतुओं और कालि-नाग का वर्णन कितनी सजीवता से किया है? करुणा के चित्रण में उपाध्याय जी सिद्ध-हस्त हैं ही। गोप गोपियों का कृष्ण के भ्रम में उद्धव को घेरना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। कहीं-कहीं व्यंजना का प्रयोग इस चतुराई से किया है कि सहज लक्षित नहीं हो पाती, जैसे राधा का ऐसे कुञ्ज में बैठना जो 'समावृता 'श्यामल-पुष्प' संकुला' थी। भावों की व्यंजना भी कुछ स्थलों पर सटीक हुई है।

(क) रोमों की भी अवलि जिसके रंग में ही रँगी है।
कोई देही बन अवनि में भूल कैसे उसे दे?

(ख) सोंधे-डूबी अलक जब है श्याम की याद आती।
ऊधो मेरे हृदय पर तो साँप है लोट जाता।

इन पंक्तियों के पढ़ने मात्र से प्रतीत होता है जैसे कोई बुढ़िया बड़ी कठिनता से खिसकती गिड़गिड़ाती हुई किसी के पास आ रही हो—

आई प्यारे निकट श्रम से एक वृद्धा प्रवीणा,
हाथों से छू कमल-मुख को प्यार से लीं बलाएँ।
पीछे बोली दुखित स्वर से तू कहीं जा न बेटा,
तेरी माता अहह कितनी बावली हो रही है।

प्रिय-प्रवास प्रेम के वियोग-पक्ष का करुण निदर्शन है। इसमें प्रेम की, 'आदर', 'सख्य', 'स्नेह', 'वात्सल्य', 'भक्ति', और 'प्रणय' सभी वृत्तियों का चित्रण पूर्ण तल्लीनता से हुआ है जिसमें लीन होने पर हृदय बार-बार यही सोचता रह जाता है—

यदि विरह विधाता ने सृजा विश्व में था,
तब स्मृति रचने में कौन-सी चातुरी थी?

कुरुक्षेत्र

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में संसार में दो महायुद्ध हुए और किसी समस्या का समाधान नहीं हुआ। इसके विपरीत परिणाम दोनों का ही बहुत व्यापक और भयंकर हुआ। जीवन के श्रेष्ठ मूल्यों में से मनुष्य का विश्वास जाता रहा। नास्तिकता, अनास्था, संदेह, और कुंठा का प्रचार हुआ। ये भावनाएँ साहित्य में भी प्रतिबिंबित और पल्लवित हुईं। जब सब कुछ क्षणिक है, सब कुछ नाशवान, सब कुछ अस्थिर, तो फिर शाश्वत को भुलाकर, क्षण को ही पकड़ना चाहिए। इस प्रकार कला में प्रचलित आधुनिक क्षणवाद दूसरे महायुद्ध की विशेष देन हुई।

लोग सोचने लगे: विज्ञान की उन्नति क्या संसार के विनाश का कारण होगी? तीसरा महायुद्ध हुआ तो वह कैसा होगा?

लेकिन मूल प्रश्न तो यह है: क्या युद्ध अनिवार्य है? क्या उसे रोका नहीं जा सकता? कुल मिलाकर क्या सिद्ध होता है उससे?

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' का 'कुरुक्षेत्र' इसी दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के उपरांत सन् १९४६ में प्रकाशित हुआ। इसमें युद्ध की भयंकर समस्या को विश्लेषण और विवेचन के लिए उठाया गया है। सृष्टि के आदि काल से लेकर अब तक न जाने कितने युद्ध हो चुके हैं; अतः मनुष्य को बेचैन करने वाली यह एक स्थायी समस्या है। युद्ध चाहे रामायण-काल का हो या बीसवीं शताब्दी का, वह भयंकर है। 'दिनकर' जी इस समस्या का समाधान खोजने महाभारत-काल में गए हैं।

महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका है। भीम दुःशासन के वक्ष को चीरकर रक्त पी चुके हैं। द्रौपदी ने अपनी वेणी शत्रु के रुधिर से सिक्त कर ली है। दोनों की प्रतिज्ञाएँ पूरी हो चुकी हैं। प्रतिशोध की ज्वाला शांत है। पांडव विजयी हुए हैं। आनंदोत्सव मनाया जा रहा है। हर्ष के स्वर शिविरों से उठकर शून्य में छा गये हैं। ठीक इसी समय युधिष्ठिर के मन में शंका

उठी है : क्या अपने बंधु-बांधवों की हत्या करके हम सुखी हुए? क्या यह सच्ची विजय है? विजय से जिन लोगों को हम अपमानित करना चाहते थे, वे तो जीवन के दूसरे पार चले गए हैं—हमारी पहुँच से बहुत दूर। उनके ऊपर तो किसी बात का प्रभाव अब नहीं पड़ सकता। तब? तब इस हर्ष को हम किसके विरुद्ध मना रहे हैं? क्या यह प्रसन्नता उचित है? क्या यह आनंद खोखलेपन का पर्यायवाची नहीं है?

मन की इस उद्विग्नता को वे अर्जुन से व्यक्त करते हैं और अपने शंका-कुल हृदय को लेकर भीष्म पितामह के पास जाते हैं। उनके अंतःकरण से एक ही ध्वनि बार-बार निकलती है—महाभारत का युद्ध विफल हुआ।

शर-शय्या पर पड़े भीष्म के चरणों को शीश से छूकर युधिष्ठिर अपनी मनोव्यथा व्यक्त करते हैं। कहते हैं : पितामह, इस विजय से मैं बहुत क्षुब्ध हूँ। मेरा यह राजमुकुट चिता की लपटों से बुना हुआ है, राज्य-सुख मुझे ऐसा लगता है जैसे चिता की राख को मथकर कोई कुछ पाना चाहे। मुझे चारों ओर पुत्र से बिछुड़ी माताएँ, पिता से बिछुड़े शिशु और पतियों से बिछुड़ी विधवाएँ दिखाई देती हैं। उनके करुण क्रंदन के बीच इस सुख का उपभोग मैं कैसे कर सकता हूँ? यह राज्य पाप के मार्ग से मुझे प्राप्त हुआ है। लोहू-भरी कीच से उत्पन्न इस कमल को मैं कैसे ग्रहण करूँ? यदि मुझे पता होता कि इस युद्ध का परिणाम ऐसा होगा, तो मैं इसमें प्रवृत्त न होता। युद्ध के स्थान पर तब मैं दुर्योधन के हृदय को जीतने का प्रयत्न करता। यदि यह संभव न होता तो मैं भिक्षा माँगकर जीवन-यापन करता। लेकिन हमारे इस अहंभाव ने कि हम समर्थ हैं, क्यों दबें; दूसरे कृष्ण के युद्ध संबंधी दर्शन ने, हमें इस कर्म में रत किया। अब एक धिक्कार की भावना मेरे हृदय से बार-बार निकलती है, जिससे बचने का कोई उपाय मेरे पास नहीं है। आत्मघात तो मैं नहीं करना चाहता, क्योंकि वह एक दूसरा पाप होगा; पर राज्य का परित्याग कर वन में तो मैं जा ही सकता हूँ। मैं जानता हूँ कि उससे भी महाभारत में हुई नरहत्या का कलंक मिट नहीं जायगा; लेकिन मेरे मन को कुछ शांति मिलेगी। इस शोणित की धारा के बहने पर भी,

जिसका मैं मूल कारण हूँ, जब कोई मुझे धर्मराज कहता है, तो मैं लज्जा से गड़ जाता हूँ। पितामह ! यह स्थिति मेरे लिए असह्य है।

सच पूछिए, तो युधिष्ठिर की यह शंका लेखक के हृदय की शंका है जो इस युग की परिस्थितियों की उपज है। इसमें हृदय-परिवर्तन की बात भी इस युग की पुकार है, जिस पर स्पष्टतया गाँधी-दर्शन का प्रभाव है।

भीष्म पितामह अनुभवी व्यक्ति थे। उन्होंने जीवन देखा था। युधिष्ठिर राजा होते हुए भी एक संवेदनशील प्राणी हैं। उनके व्यक्तित्व में सात्विकता की प्रधानता है। उनका झुकाव जीवन की सात्विक वृत्तियों—करुणा, दया, ममता, प्रेम, त्याग, क्षमा आदि की ओर अधिक है। वैराग्य के तत्त्व उनमें प्रारम्भ से ही पाये जाते हैं, जीवन को जकड़कर रखने की भावना उनमें नहीं है। अधिकार से अधिक त्याग की वृत्ति उनमें पायी जाती है। लेकिन पितामह का दृष्टिकोण एक जीवन-प्रेमी या जीवन के युद्ध में रत एक सच्चे सेनानी का है। अतः उनका पहला उत्तर तो यह है कि युद्ध को एक व्यक्ति के दृष्टिकोण से नहीं देखा जा सकता। उसके स्वरूप-निरूपण के लिए उसे व्यापक धरातल पर रखकर देखना होगा। युद्ध में ध्वंस तो अनिवार्य है। उसका अतिरंजित वर्णन करने से कोई लाभ नहीं। युद्ध जीवन की परिस्थितियों से उत्पन्न होता है। कुछ लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए दूसरों के स्वत्वों का अपहरण करते हैं। इससे अन्याय फैलता है। अन्याय से असंतोष बढ़ता है—अन्यायी के प्रति मन में घृणा, द्वेष, और प्रतिकार की भावनाएँ जगती हैं। प्रतिशोध के लिए कुछ लोग सामने आते हैं। वे वास्तव में असंख्य लोगों के प्रतिनिधि होते हैं। महाभारत में भी पाँच पांडव न जाने कितने लोगों के प्रतीक थे; अतः पांडवों और कौरवों का युद्ध न्याय और अन्याय का युद्ध था। न्याय का समर्थन कोई पाप की बात नहीं है। हाँ, न्याय का पक्ष न लेकर उससे विमुख होना, पाप में गिना जाना चाहिए। भीष्म ने, न्याय के लिए लड़ना, धर्मसंगत घोषित किया है। युद्ध की तुलना आँधी से करते हुए उन्होंने इसे प्रकृति की अनिवार्यता बतलाया है। अधिक ताप से जैसे आँधी उठती है और वृक्षों की डालें टूट जाती हैं, वैसे ही अन्यायजनित घृणा-विद्वेष के भावों से युद्ध का जन्म होता है

और नर-संहार होता है। टूटी डालों के लिए प्रकृति शोक नहीं मनाती। जब तक अन्याय है, तब तक युद्ध है, जब तक युद्ध है तब तक ध्वंस है; अतः युद्ध से पलायन तो पाप कहला सकता है, लेकिन धर्म का पक्ष लेकर युद्ध करना पाप नहीं है। यों पाप-पुण्य की व्याख्या करना कठिन काम है। उनके बीच विभाजक-रेखा खींचना संभव नहीं है। फिर भी पाप-पुण्य को सभी पहचानते हैं। भीष्म युधिष्ठिर के हृदय से दो शंकाओं को मिटाना चाहते हैं (१) युद्ध सभी परिस्थितियों में पाप नहीं है—महाभारत का युद्ध तो विशेष रूप से नहीं (२) युधिष्ठिर न्याय की ओर थे; अतः उनका पश्चाताप करना व्यर्थ है।

एक दूसरा प्रश्न व्यक्ति, समुदाय और संसार-त्यागी का है।

व्यक्ति के प्रति जो व्यवहार होता है—विशेष रूप से विशिष्ट व्यक्ति के प्रति—उसका प्रभाव समुदाय पर पड़ता है, समुदाय उससे प्रभावित होता है। पांडवों को वनवास देना उस समुदाय का अपमान करना था जो उनसे उचित सहानुभूति रखता था, जो न्याय को लेकर उनके साथ था। द्रौपदी का चीर-हरण भी अकेली नारी का अपमान नहीं था—पूरी नारी जाति का अपमान था।

रही बात यह कि क्या कौरवों के हृदय को जीता नहीं जा सकता था? तो, पहले तो यह साधु-धर्म है, लोक-धर्म नहीं; दूसरे, उसमें बड़ी देर लगती। नीति कहती है कि हिंस्र-पशु को ज्ञानोपदेश करना व्यर्थ है। पाशविक कर्म को आत्म-बल से भी जीता जा सकता है; लेकिन कभी-कभी ऐसी स्थिति आ खड़ी होती है कि खड्ग का सामना खड्ग से ही करना पड़ता है। इसी से कवि ने भीष्म के मुख से कहलवाया है—

तप का परन्तु बस चलता नहीं सदैव
पतित समूह की कुवृत्तियों के सामने।

भीष्म ने युद्ध के कारणों पर प्रकाश डालते हुए उसे निंद्य बतलाया है; लेकिन उसके अनिवार्य हो उठने पर न्याय का पक्ष ले लेना तो और भी गर्हित कर्म है।

शांति और क्रांति पर अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है— शांति वही वरणीय है जो न्याय पर आधारित हो। अन्यायी व्यक्ति दुर्बलों को दबाकर जिस शांति की स्थापना करता है, वह झूठी है। इसमें एक ओर अहंकार चलता है, दूसरी ओर शांति के आवरण में घृणा। यह घृणा किसी दिन फूटकर क्रांति में बदल जायगी। ऐसी दशा में युद्ध का दोष अत्याचारियों और अहंकारियों के सिर मढ़ा जाना चाहिए, शोषितों और न्याय के लिए लड़ने वालों के सिर नहीं। जो युद्ध के बीज बोते हैं, वे ही उसके लिए उत्तरदायी हैं, जो उसके लिए विवश किए जाते हैं, वे नहीं—

(१) **धर्म है हुताशन का धधक उठे तुरंत,**
कोई क्यों प्रचंड-वेग वायु को बुलाता है?
फूटेगा कराल कंठ ज्वालामुखियों का ध्रुव,
आनन पर बैठ विश्व धूम क्यों मचाता है?
फूंक से जलायेगा अवश्य जगती को व्याल,
कोई क्यों खरोंच मार उसको जगाता है?
विद्युत खगोल से अवश्य ही गिरेगी, कोई,
दीप्त अभिमान को क्यों ठोकर लगाता है?

(२) **कौन है बुलाता युद्ध? जाल जो बनाता?**
या जो जाल तोड़ने को क्रुद्ध काल-सा निकलता?

(३) **पापी कौन? मनुज से उसका**
न्याय चुराने वाला?
या कि न्याय खोजते विघ्न का
सीस उड़ाने वाला?

जीवन के उच्च आदर्शों—क्षमा, दया, सहनशीलता का अपना मूल्य है। लेकिन इनका प्रयोग सबल व्यक्ति ही कर सकता है। यदि कोई निर्बल व्यक्ति इनकी घोषणा करता है, तो यह उसकी कायरता को छिपाने का

एक बहाना मात्र है। पौरुष के साथ विनय का तो कुछ अर्थ भी है, कायरता के साथ उसकी कोई संगति नहीं। इसी से भीष्म ने कहा है—

(१) करुणा क्षमा है क्लीव जाति के कलंक घोर,
　　क्षमता क्षमा की शूरवीरों का सिंगार है।

(२) जेता के विभूषण सहिष्णुता-क्षमा हैं, किंतु,
　　हारी हुई जाति की सहिष्णुताऽभिशाप है।

जहाँ तक सद्भावना का प्रश्न है, वहाँ तक वह सभी के हृदय में विद्यमान है। प्रेम और शांति की स्थापना कौन विवेकी पुरुष नहीं चाहता? लेकिन प्रेम के साम्राज्य के लिए अभी अनुकूल भूमि नहीं बन पायी है। शांति के लिए प्रयत्न करने वाले कम हैं, अशांति फैलाने वाले अगणित, युधिष्ठिर दो-चार हैं, दुर्योधन करोड़ों। भीष्म का कहना यह है कि विश्व का मानस अभी बहुत अधिक विकसित नहीं हुआ है; अतः प्रेम का राज्य धरती पर केवल सद्भावना के आधार पर स्थापित नहीं हो सकता। हमें चाहिए कि हम शक्ति का उपयोग करें; लेकिन धर्म और न्याय के लिए।

दनुज और मनुज का अंतर बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि इनका संघर्ष तो चिरंतन है। महाभारत कौरवों और पांडवों के बीच का ही युद्ध नहीं, वह दानवता और मानवता के बीच का द्वन्द्व भी था। उस समय सारा भारतवर्ष ही जैसे दो शिविरों में विभक्त हो गया था। बहुत दिनों से धीरे-धीरे ऐसे कारण उपस्थित हो रहे थे जिनसे किसी दिन भी युद्ध की अग्नि भभक सकती थी। पिछली घटनाओं के सिंहावलोकन के साथ मुख्य घटनाओं की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा है कि कर्ण अर्जुन के वध का प्रण निभाना चाहता था, द्रुपद द्रोणाचार्य को नीचा दिखाना चाहते थे। बहुत से राजा कृष्ण के सुधारों के कारण उनसे द्वेष रखते थे। इन सबके ऊपर जब तुमने राजसूय यज्ञ किया तो न जाने कितने राजाओं ने अपने को अपमानित अनुभव किया। वे तुम्हारे वैभव को सहन नहीं कर पाये। इस प्रकार लोग दो दलों में बँटने लगे—कोई पांडवों के तो कोई कौरवों के पक्ष में।

इसके उपरांत भरी सभा में जो द्रौपदी का अपमान हुआ, उसने अग्नि में घृत का काम किया।

भीष्म जैसे तत्ववेत्ता के समझाने पर भी युधिष्ठिर की शंका का समाधान नहीं होता। वे एक बार फिर युद्ध से उत्पन्न धरती के वीभत्स दृश्यों को उनके सामने रखते हैं। इस वीभत्सता को देखकर प्रकृति जैसे मलिन और उदास हो उठी है। वे जानते हैं कि इस युद्ध में ज्ञान, विज्ञान, धर्म और कलाओं के बड़े-बड़े ज्ञाता मारे गए। देश का वैभव, तेज और सौंदर्य नष्ट हो गया। युद्ध-काल में सामान्य जीवन की नैतिकता न जाने कहाँ चली गई। द्रोणाचार्य के वध के लिए युधिष्ठिर को स्वयं झूठ बोलने का अनैतिक कर्म करना पड़ा। इस बात को वे अपनी साधुता पर कलंक समझते हैं। विजय प्राप्त करके उन्हें ऐसा लगता है जैसे इस युद्ध के मूल में, सिंहासन प्राप्ति की कामना मन में कहीं छिपी रही हो। युद्धोपरांत देश की दशा का वर्णन करते हुए इसी से वे कहते हैं—

सब सूर सुयोधन साथ गए,
मृतकों से भरा यह देश बचा है,
मृतवत्सला मा की पुकार बची,
युवती विधवाओं का वेश बचा है;
सुख-शांति गई, रस-राग गया,
करुणा दुख दैन्य अशेष बचा है;
विजयी के लिए यह भाग्य के हाथ में
क्षार समृद्धि का शेष बचा है।

कुरुक्षेत्र में दो ही पात्र हैं—भीष्म पितामह और युधिष्ठिर।

महाभारत के आदि पर्व के अनुसार कुरु वंश में प्रतीप नाम के एक राजा हुए। उनके पुत्र का नाम शांतनु था। शांतनु हस्तिनापुर में रहते थे। एक बार वे वन में मृगया को गए। वहाँ उनका साक्षात्कार गंगा जी से हुआ। शांतनु के आकर्षण को जानकर गंगा ने कहा कि वे उनको पति रूप में स्वीकार करने को तैयार हैं; लेकिन यदि राजा उन्हें कभी अप्रिय

वचन कहेंगे, तो वे उन्हें छोड़कर चली जायँगी। राजा ने गंगा की यह शर्त स्वीकार कर ली। शांतनु के गंगा से आठ पुत्र उत्पन्न हुए। जैसे ही पुत्र का जन्म होता, गंगा उसे जल में प्रवाहित कर देती थीं। शांतनु को बुरा तो बहुत लगता था, मानसिक परिताप भी कम नहीं होता था; लेकिन कहीं वचन भंग न हो, इस भय से वे अपनी पत्नी से कुछ भी नहीं कहते थे। फिर भी गंगा ने आठवें पुत्र की जैसे ही हत्या करनी चाही; शांतनु विचलित हो उठे। क्रुद्ध होते हुए उन्होंने कहा : हत्यारी, तू नहीं जानती कि तू कितना बड़ा और नीच पाप कर रही है। गंगा इस आठवें पुत्र को अपने पति को सौंपते हुए बोली, "आप इसे संभालिए। इसकी हत्या मैं नहीं करूँगी। आपका यह पुत्र अपने जीवन में एक महान् व्रत का पालन करते हुए अत्यधिक यशस्वी सिद्ध होगा, लेकिन वचन के अनुसार मेरे जाने का समय अब आ गया है।" इतना कहकर वे अंतर्द्धान हो गयीं।

शांतनु के इस पुत्र का नाम देवव्रत पड़ा। गंगा से उत्पन्न होने के कारण वे गांगेय भी कहलाते थे।

कितने ही वर्षों के उपरान्त शांतनु फिर यमुना के निकट एक वन में घूम रहे थे कि उनकी दृष्टि एक मछुवाहे की पुत्री सत्यवती पर पड़ी। उसे देखते ही वे उसके प्रेम में पड़ गए। शांतनु ने जब अपने हृदय की बात सत्यवती के पिता से कही तो उसने उत्तर दिया कि यदि राजा यह वचन दें कि सत्यवती का पुत्र ही राज्य का अधिकारी होगा, तो वह अपनी पुत्री का विवाह उनसे कर देगा। शांतनु को यह बात अच्छी नहीं लगी और वे निराश होकर हस्तिनापुर लौट आए। देवव्रत को जब अपने पिता के दुःख का पता चला तो वे उच्चैश्रवः के पास गए और शंका मिटाने के लिए उन्होंने उसके सामने प्रण किया कि वे आजीवन ब्रह्मचारी रहेंगे। उनके इस प्रण पर अंतरिक्ष से अप्सराओं और देवताओं ने पुष्पों की वर्षा की। इस भीष्म प्रतिज्ञा के कारण ही भविष्य में चलकर वे भीष्म कहलाए।

सत्यवती का विवाह शांतनु से हो गया। पिता ने प्रसन्न होकर भीष्म को वर दिया कि तुम्हारी इच्छित मृत्यु होगी। जब तक तुम नहीं चाहोगे, मृत्यु तुम्हें छू नहीं सकेगी।

सत्यवती ने दो पुत्रों को जन्म दिया। इनमें बड़े का नाम चित्रांगद और छोटे का विचित्रवीर्य था। चित्रांगद युद्ध में एक गंधर्व के हाथों मारा गया। विचित्रवीर्य उस समय बालक ही था। भीष्म ने उसे राजसिंहासन पर बिठा दिया। उसके वयस्क होने पर उन्हें उसके विवाह की चिंता हुई। उस समय काशीराज की तीन कन्याओं—अंबा, अंबिका और अंबालिका का स्वयंवर हो रहा था। भीष्म उनका बलपूर्वक हरण कर लाए। इनमें से अंबा ने कहा कि वह पहले ही किसी को मन में वरण कर चुकी है; अतः भीष्म ने उसे छोड़ दिया। अंबिका और अंबालिका को उन्होंने अपने सौतेले भाई विचित्रवीर्य को सौंप दिया। विवाह के सात वर्ष के उपरांत विचित्रवीर्य की मृत्यु क्षय रोग से हो गई।

सत्यवती कुल का अंत होते देख बहुत दुःखी हुई। उसने भीष्म से कहा : जब मैं कुमारी थी, तब मैंने द्वैपायन (व्यास) नाम के एक पुत्र को जन्म दिया था। इस काम में वह हमारा सहायक हो सकता है। परिणाम स्वरूप व्यास द्वारा अंबिका और अंबालिका आदि से तीन पुत्र हुए—धृतराष्ट्र, पांडु, और विदुर। इनमें धृतराष्ट्र अंबिका से, पांडु अंबालिका से और विदुर अंबिका की एक शूद्रा नौकरानी से उत्पन्न थे। बड़े होने पर धृतराष्ट्र सिंहासन के अधिकारी हुए। विदुर को भीष्म ने उनका मंत्री नियुक्त कर दिया। लेकिन अंधे होने के कारण धृतराष्ट्र ने राज्य-भार वहन करना स्वीकार न किया; अतः पांडु राजा हो गए।

भीष्म को इनके विवाहों की भी चिंता हुई। गांधार के राजा सुबल की कन्या गांधारी से उन्होंने धृतराष्ट्र का विवाह कर दिया। शकुनि इसी गांधारी का भाई था। यदुवंशी शूर की पुत्री पृथा से उन्होंने पांडु का विवाह किया। कुंतिभोज की पोषिता कन्या होने के कारण पृथा का दूसरा नाम कुंती भी था। वसुदेव कुंती के भाई थे। मद्रपति की कन्या माद्री पांडु की दूसरी पत्नी हुई। शल्य इसी माद्री के भाई थे। विदुर का विवाह भीष्म ने देवक की कन्या से किया। इस प्रकार तीनों भाइयों का विवाह हो गया।

लेकिन तीस वर्ष व्यतीत होने पर भी पांडु के कोई संतान नहीं हुई। इस दुःख को जब पांडु ने कुंती से व्यक्त किया तो कुंती ने बतलाया कि अपने

पिता के घर उसने एक ऋषि की सेवा की थी। उन्होंने प्रसन्न होकर उसे ऐसा मंत्र दिया था जिससे वह देवताओं का आवाहन कर सकती थी। परिणाम यह हुआ कि कुंती ने तीन पुत्रों को जन्म दिया—धर्म से युधिष्ठिर को, वायु से भीम को और इंद्र से अर्जुन को। कर्ण भी सूर्य से उत्पन्न कुंती का पुत्र था। इसका जन्म कुंती का विवाह होने से पूर्व ही हो चुका था। माद्री इस सुख से वंचित न रहे; अतः कुंती ने उससे किसी देवता का चिंतन करने के लिए कहा। माद्री ने अश्विनीकुमारों का ध्यान किया। उनसे नकुल और सहदेव नाम के दो जुड़वाँ पुत्र उत्पन्न हुए। इधर धृतराष्ट्र के घर में गांधारी ने दुर्योधन को जन्म दिया। धृतराष्ट्र के दुःशला नाम की एक पुत्री और वैश्य पत्नी से युयुत्स नाम का एक पुत्र भी था। दुःशला का विवाह धृतराष्ट्र ने सिंधुपति जयद्रथ से कर दिया। कुल मिलाकर पांडु के पाँच और धृतराष्ट्र के एक सौ एक पुत्र थे।

वसंत के दिनों में एक बार पांडु माद्री के साथ वन में घूम रहे थे। रोगी होने के कारण भोग उन्हें वर्जित था। लेकिन एकांत में वे अपने मन पर अधिकार खो बैठे। माद्री के मिलन ने उनके प्राण ले लिए। अपने दोनों पुत्रों को कुंती को सौंपकर माद्री पांडु के साथ सती हो गई।

आगे चलकर, पांचाल नरेश द्रुपद की कन्या द्रौपदी पाँचों पांडवों की पत्नी हुई। यों पृथक रूप से भीष्म की पत्नी राक्षसी हिडिम्बा और अर्जुन की पत्नी कृष्ण की बहिन सुभद्रा भी थी। हिडिम्बा के पुत्र का नाम घटोत्कच और सुभद्रा के पुत्र का अभिमन्यु था।

इस प्रकार भीष्म, पांचों पांडवों तथा दुर्योधन दुःशासन आदि कौरवों दोनों के पितामह थे।

युधिष्ठिर एक धर्म-प्राण व्यक्ति हैं। प्रारंभ से ही उनका झुकाव धर्म की ओर है। जीवन और उसकी समस्याओं को वे व्यापक दृष्टिकोण से देखते हैं। वे स्वार्थी, लोलुप, महत्त्वाकांक्षी या आत्म-केन्द्रित व्यक्ति नहीं हैं। महाभारत के महासंहार को देखकर उनकी आत्मा काँप उठती है और उनके मन में अनेक प्रकार की शंकाएँ उठती हैं। इन शंकाओं के समाधान के लिए वे भीष्म पितामह के पास जाते हैं। वे उनकी बात को एकदम ग्रहण नहीं कर

लेते। बहुत तर्क-वितर्क के पश्चात् ही वे उनके बताए मार्ग को स्वीकार करते हैं। जीवन में जो श्रेष्ठतम है, युधिष्ठिर उसके प्रतीक हैं। उन जैसे व्यक्ति से ही मानवता के विकास और उसके कल्याण की आशा की जा सकती है।

कवि के आत्म-चिंतन का कारण, युधिष्ठिर का आत्म-मंथन ही है, जिससे ऐसे उत्कृष्ट विचार-प्रधान काव्य का प्रणयन हुआ। युधिष्ठिर का अनुताप उन्हें भीष्म पितामह के पास ले जाता है और वहाँ युद्ध से आगे बढ़कर वे मनुष्य की शक्ति, सीमाओं और संभावनाओं पर विचार करते पाये जाते हैं। कुरूक्षेत्र व्यक्ति की समस्या से अवश्य प्रारंभ हुआ है और उसमें पात्र भी केवल दो ही हैं—एक प्रश्न करने वाला और दूसरा उत्तर देने वाला; लेकिन उसमें युद्ध के संदर्भ में मानवता के ज्ञात इतिहास से लेकर आज तक की मनुष्य की प्रमुख समस्याओं पर विचार हुआ है। कुरुक्षेत्र मनुष्य की आधारभूत समस्याओं का विवेचन करने वाला एक उत्कृष्ट चिंतन-प्रधान काव्य है।

भीष्म पितामह कौरव और पांडव दोनों के पूज्य थे; लेकिन जीवन भर वे कौरवों के साथ रहे। महाभारत के युद्ध में भी उन्होंने दुर्योधन का साथ दिया। वे आजन्म ब्रह्मचारी, महान नीतिज्ञ, त्यागी और महा सेनानी थे। युद्ध में जब तक वे जीवित रहे, पांडवों को अपनी निजय की कोई आशा न थी। वे सच्चे आर्य थे। उनके मुँह से निकला एक-एक शब्द उनके अंतःकरण के ओज का परिचायक है। सच पूछिए तो उनका जीवन-दर्शन एक सैनिक का जीवन-दर्शन है—

(१) युद्ध को तुम निंद्य कहते हो मगर,
जब तलक हैं उठ रही चिनगारियाँ
भिन्न स्वार्थों के कुलिश-संघर्ष की
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।

(२) सबसे बड़ा धर्म है नर का
सदा प्रज्ज्वलित रहना,
दाहक शक्ति समेट स्पर्श भी
नहीं किसी का सहना।

(३) सटता कहीं भी एक तृण जो शरीर से तो
उठता कराल हो फणीश फुफकार है;
सुनता गजेन्द्र की चिंघार जो वनों में कहीं
भरता गुहा में ही मृगेन्द्र हुहुङ्कार है,
शूल चुभते हैं, छूते आग है जलाती; भू को
लीलने को देखो गर्जमान पारावार है,
जग में प्रदीप्त है इसी का तेज, प्रतिशोध
जड़-चेतनों का जन्मसिद्ध अधिकार है।

पितामह शरीर से कौरवों के साथ रहते हुए भी मन से पांडवों का शुभ चाहते थे। उनके जीवन में कर्म और स्नेह का अंतर्द्वन्द्व बराबर चलता रहता है। इन दोनों का एक साथ निर्वाह करना सचमुच कठिन काम था। अंत में कर्म पर स्नेह की विजय होती है, जिस पर स्वयं-भीष्म को थोड़ा आश्चर्य होता है—

(क) सच है, था चाहता पांडवों
का हित मैं सन्मन से,
पर, दुर्योधन के हाथों मैं
बिका हुआ था तन से।
(ख) प्यार पांडवों पर मन से
कौरव की सेवा तन से,
सध पायेगा कौन काम
इस बिखरी हुई लगन से ?

उनके मन की सब से बड़ी व्यथा यह थी कि उनकी आँखों के सामने द्रौपदी का अपमान हुआ। इस बात को उन्होंने मुक्त हृदय से थोड़े मानसिक परिताप के साथ स्वीकार किया है—

धिक् धिक् मुझे, हुई उत्पीड़ित
सम्मुख राज-बधूटी,

आँखों के आगे अबला की
लाज खलों ने लूटी;

और रहा जीवित मैं, धरणी
फटी न दिग्गज डोला,
गिरा न कोई वज्र, न अंबर
गरज क्रोध में बोला;

जिया प्रज्ज्वलित अंगारे—सा
मैं आजीवन जग में,
रुधिर नहीं था, आग पिघल कर
बहती थी रग-रग में;

यह जन कभी किसी का अनुचित
दर्प न सह सकता था,
कहीं देख अन्याय किसी का
मौन न रह सकता था;

सो कलंक वह लगा नहीं
धुल सकता जो धोने से,
भीतर ही भीतर जलने
या कंठ फोड़ रोने से,

मृत्यु से पूर्व यह अंतर्द्वन्द्व व्यथा बनकर युधिष्ठिर के सामने फूट पड़ता है। उस समय भीष्म की परुष वाणी कितनी कोमल हो उठती है।

बही न कोमल वायु, कुंज
मन का था कभी न डोला,
पत्तों की झुरमुट में छिपकर
विहग न कोई बोला;

चढ़ा किसी दिन फूल, किसी का
मान न मैं कर पाया,
एक बार भी अपने को था
दान न मैं कर पाया;

वह अतृप्ति थी छिपी हृदय के
किसी निभृत कोने में,
जा बैठा था आँख बचा
जीवन चुपके दोने में;

न था मुझे विश्वास, कर्म से
स्नेह श्रेष्ठ, सुंदर है,
कोमलता की लौ, व्रत के
आलोकों से बढ़कर है,

'कुरुक्षेत्र' के छठे सर्ग में कवि के चिंतन का विषय मनुष्य ही है। 'दिनकर' जी ने अपने 'निवेदन' में इसे क्षेपक कहा है; पर यह इस काव्य-ग्रंथ में बहुत स्वाभाविक रूप से आया है। सच बात यह है कि मनुष्य पर विचार किए बिना मनुष्य से संबंधित किसी-भी समस्या पर ठीक से विचार किया ही नहीं जा सकता।

मनुष्य से श्रेष्ठ संसार में कुछ नहीं है; लेकिन यदि उसके विनाशकारी कर्मों पर विचार किया जाय, तो उस जैसा निंद्य जीव भी फिर कोई नहीं निकलेगा। सृष्टि के आदि काल से वह प्रकृति और अपने वातावरण के साथ निरंतर संघर्ष में रत है। साहित्य, कला, ज्ञान, विज्ञान में जो उन्नति उसने की है, वह विस्मयकारिणी है। कवि ने वैज्ञानिक उन्नति का उल्लेख करते हुए कहा है कि संसृति के सारे गूढ़ अर्थ आज उसे खुली पुस्तक के समान स्पष्ट हैं। प्रकृति के तत्त्वों पर उसका असाधारण अधिकार है। उसके चरणों में भूगोल और मुट्ठी में आकाश बंद है। वह मंगल और चंद्रमा से बात करने जा रहा है।

लेकिन अपरिसीम भौतिक शक्ति का स्वामी होते हुए भी एक दृष्टि से मनुष्य आदिम काल जैसा ही बर्बर और हिंस्र है—

> **यह मनुज, ब्रह्मांड का सबसे सुरम्य प्रकाश**
> **कुछ छिपा सकते न जिससे भूमि या आकाश;**
> **यह मनुज, जिसकी शिखा उद्दाम,**
> **कर रहे जिसको चराचर-भक्तियुक्त प्रणाम;**
> **यह मनुज, जो सृष्टि का शृंगार,**
> **ज्ञान का, विज्ञान का, आलोक का आगार;**
> **वह अभी पशु है, निरा पशु, हिंस्र, रक्त-पिपासु**
> **बुद्धि उसकी दानवी है स्थूल की जिज्ञासु।**
> **यह मनुज ज्ञानी, शृंगालों, कुक्कुरों से हीन**
> **हो किया करता अनेकों क्रूर कर्म मलीन।**
> **इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल,**
> **वज्र होकर छूटते शुभ धर्म अपना भूल।**

इसका क्या कारण है ?

इस विरोधाभास को स्पष्ट करते हुए उसने कहा है कि वैज्ञानिक उन्नति के आशय को मनुष्य ने ठीक से समझा नहीं है। वह अपनी शक्ति को ध्वंस में नियोजित कर रहा है। यह शक्ति का दुरुपयोग है। इसका कारण उसने यह बतलाया है कि मनुष्य ने देह का जितना ध्यान रखा है, उतना स्नेह का नहीं; भौतिक उन्नति की ओर वह जितना झुका है, प्राणों का उतना ही तिरस्कार उसने किया है; मस्तिष्क और हृदय का संतुलन वह बनाए नहीं रह सका। यहाँ यह संकेत करने की आवश्यकता है कि श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने भी मनुष्य के दुःख के मूल में बुद्धि और भावना के इसी असामंजस्य को माना है। इस दृष्टि से कुरुक्षेत्र कामायनी से प्रभावित प्रतीत होता है। भौतिकता की तुलना में मानस की उपेक्षा की ओर इंगित श्री सुमित्रानंदन पंत ने भी अपनी रचनाओं में बराबर किया है। इस प्रकार यह इस युग की एक विशेष व्याधि ही प्रतीत होती है।

(क) किंतु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश।
(ख) ले चुकी सुख भाग समुचित से अधिक है देह,
देवता हैं माँगते मन के लिए लघु गेह।

परिणाम यह निकला कि लोक-कल्याण के लिए मनुष्य को धर्म के तत्त्व की आवश्यकता है। धर्म पुराने अर्थों में नहीं, मानवता की रक्षा के अर्थों में। धर्म का रहस्य यह है कि मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थ का परित्याग कर सामूहिक कल्याण के लिए प्रयत्न करे। यह उसी समय संभव है जब वह बुद्धि के बहकाने में न आकर मन की कोमल-भावनाओं की पुकार सुने। ये दोनों बातें 'दिनकर' जी ने इस प्रकार स्पष्ट की हैं—

(१) श्रेय उसका, बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत,
श्रेय मानव की असीमित मानवों से प्रीत,
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान्,
और मानव भी वही।

(२) चाहिए उसको न केवल ज्ञान,
देवता हैं माँगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान;
मोम-सी कोई मुलायम चीज
ताप पाकर जो उठे मन में पसीज पसीज;
प्राण के झुलसे विपिन में फूल कुछ सुकुमार;
ज्ञान के मरु में सुकोमल-भावना की धार;
चाँदनी की रागिनी, कुछ भोर की मुसकान;
नींद में भूली हुई बहती नदी का गान—

और इस स्थिति को कवि ने धर्म का आलोक कहा है।

मनुष्य के कई रूप हैं। एक वह जो सृजन में रत है, दूसरा वह जो विनाश की ओर झुका हुआ है। भीष्म पितामह का कहना है कि यदि मनुष्य

दोषों से पूर्ण है तो गुणों से भी। मनुष्य-ही-मनुष्य की आशा है—

सच है, मनुज बड़ा पापी है
नर का वध करता है;
पर भूलो मत मानव के हित
मानव ही मरता है।

इसके उपरांत प्रकृति के वैभव की ओर उन्होंने युधिष्ठिर का ध्यान आकृष्ट किया है। यहाँ किसी बात का अभाव नहीं है। उनका कहना है—

प्रभु के दिए हुए सुख इतने
हैं विकीर्ण धरणी पर,
भोग सकें जो इन्हें, जगत में
कहाँ अभी इतने नर!

भू से ले अंबर तक यह जल
कभी न घटने वाला,
यह प्रकाश, यह पवन, कभी भी
नहीं सिमटने वाला।

यह धरती फल, फूल, अन्न, धन
रतन उगलने वाली,
यह पालिका मृगव्य जीव की
अटवी सघन निराली।

तुंग शृंग वे शैल कि जिनमें
हीरक रत्न भरे हैं,
वे समुद्र जिनमें मुक्ता
विद्रुम प्रवाल बिखरे हैं।

तब मनुष्य दुःखी क्यों है?

जीवन में सुखी रहने के लिए भीष्म ने मनुष्य के श्रम की सराहना की

है। वे भाग्यवाद के विरोधी और पुरुषार्थ के पक्षपाती हैं। दूसरी बात उन्होंने व्यष्टि के स्वार्थ के स्थान पर समष्टि की हित-कामना की कही है। अर्थात् सामाजिक प्राणी का यह कर्तव्य है कि वह अपने हित को लोक के हित से एकाकार करके देखे। राजनीति और धर्म में से उनका झुकाव निश्चित रूप से धर्म की ओर है। राजतंत्र की स्थापना से पहले उन्होंने एक ऐसे काल की कल्पना की है, जब सब सुखी थे। लेकिन राजा जो प्रजा का प्रहरी था, उनका शासक बन बैठा। समाज में सुख के विस्तार के लिए यह आवश्यक है कि जीवन की सुविधाएँ सभी को समान रूप से प्राप्त हों। इन भावनाओं को व्यक्त करने वाली इन पंक्तियों पर ध्यान दजिए—

(१) ब्रह्मा से कुछ लिखा भाग्य में
मनुज नहीं लाया है,
अपना सुख उसने अपने
भुजबल से ही पाया है।

(२) जब तक मनुज-मनुज का यह
सुख-भाग नहीं सम होगा।
शमित न होगा कोलाहल
संघर्ष नहीं कम होगा।

(३) राजा-प्रजा नहीं कुछ होता
होते मात्र मनुज ही!

(४) सब को मुक्त प्रकाश चाहिए
सबको मुक्त समीरण,
बाधा-रहित विकास, मुक्त
आशंकाओं से जीवन।

(५) वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष
ठिठुर रहे हैं उन्हें फैलने का वर दो,
रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष
उसकी शिराएँ तोड़ो, डालियाँ कतर दो।

युधिष्ठिर जीवन से विरक्त हो उठे हैं; अतः भीष्म ने सबसे प्रबल प्रहार मनुष्य की विरक्ति की भावना पर किया है। कर्म और संन्यास में से वे कर्म के पक्ष में हैं। संन्यास को उन्होंने जीवन-रण से पलायन कहा है, उसे एक अस्वस्थ भावना बतलाया है, स्पष्टतया कायरता घोषित किया है। जीवन से भागकर मनुष्य जा कहाँ सकता है?

(क) धर्मराज संन्यास खोजना
कायरता है मन की।

(ख) धर्मराज, क्या यती भागता
कभी गेह या वन से?
सदा भागता फिरता है वह
एक मात्र जीवन से।

(ग) धर्मराज, कर्मठ मनुष्य का
पथ संन्यास नहीं है,
नर जिस पर चलता वह
मिट्टी है, आकाश नहीं है।

(घ) दीपक का निर्वाण, बड़ा कुछ
श्रेय नहीं जीवन का,
है सद्धर्म दीप्त रख उसको
हरना तिमिर भुवन का।

अंत में वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मनुष्य के पतन से मनुष्य का मूल्य आँकना ठीक नहीं है। उस पतन से उसे ऊपर उठना चाहिए। ऐसी भावना श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी 'नहुष' के अंत में व्यक्त की है।

कथा-भाग से भिन्न इसमें कवि का अपना एक पक्ष है जिसे उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। कुरुक्षेत्र युद्ध की समस्या को प्रस्तुत करता है—युद्ध जैसा कि उसे युधिष्ठिर समझते हैं, जैसा कि उसे भीष्म समझते हैं। लेकिन इन दोनों के ऊपर कवि का भी अपना मंतव्य है। अपने युग के दो महा-

समरों से उत्पन्न भीषण परिणाम से क्षुब्ध होकर कवि ने इस ग्रंथ का प्रणयन किया है। इसमें कवि कभी युधिष्ठिर के मुँह से बोलता है, कभी भीष्म के मुँह से। इन दोनों से पृथक उसने स्वतंत्र रूप से भी अपने विचार व्यक्त किए हैं।

प्रारंभ में, वह युद्ध के सत्य को स्वीकार करता है। महाभारत-काल में भी युद्ध हुआ था और उसकी आँखों के सामने बीसवीं शताब्दी में भी। काल के इस अंतराल में न जाने कितने समर विश्व के विभिन्न भागों में हुए हैं। उनका लेखा-जोखा इतिहास के पास है। सच पूछिए, तो काव्य के लिए यह बहुत बड़ा विषय है। कवि इन युद्धों में से एक महाभयंकर युद्ध को, जिसके परिणाम दीर्घकालव्यापी थे, विवेचन के लिए चुन लेता है। युद्ध से युद्ध की शांति नहीं होती, वह जानता है। युद्ध में व्यर्थ का नरसंहार होता है, यह भी उसे ज्ञात है। जो युद्ध करते हैं, वे भी उसके दुष्परिणामों से अवगत होते हैं। लेकिन मनुष्य है कि पिछले युद्धों की भयंकरता को भुलाकर फिर एक नया युद्ध छेड़ देता है। इस प्रकार, संसार में युद्धों की एक परम्परा-सी स्थापित हो गई है। इसे देखकर लगता है जैसे युद्ध प्रकृति की, जीवन की अनिवार्यता हो। भीष्म पितामह ने भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया है। युद्ध यदि अनिवार्य है, तो फिर मनुष्य युद्ध करने को विवश है।

लेकिन महाभारत-काल और आज की परिस्थितियाँ एकदम भिन्न हैं। मनुष्य ने अनुभव से बहुत कुछ सीखा है। वह अब आदि काल का बर्बर व्यक्ति नहीं है। उसे अपनी सभ्यता पर गर्व है। वह आज मानवता के उच्च-तम तत्त्वों का पोषक है। अतः कवि अपनी बात एक संदेह से प्रारंभ करता है। युद्ध की अनिवार्यता पर वह एक प्रश्न-चिह्न लगाता है।

क्या शस्त्र ही—

उपचार एक अमोघ है

अन्याय का, अपकर्ष का, विष का, गरलमय द्रोह का ?

पाँचवें सर्ग के प्रारंभ में कवि ने युद्ध पर फिर स्वतंत्र रूप से विचार किया है। स्पष्ट है कि वह महाभारत के युद्ध को तत्कालीन दृष्टि से नहीं

देख सकता। वह उसे आज की दृष्टि से देखता है। वह युद्धों को और उनसे उत्पन्न साम्राज्यवाद के वैभव को आँख फाड़कर नहीं देखता। अपने प्रभाव की स्थापना के लिए किए गए राजसूय यज्ञों, उनमें ऋत्विकों द्वारा पढ़ी गई वेद की ऋचाओं, ब्राह्मणों के स्वस्ति-वाचन और कवियों द्वारा लिखी गई राजाओं की प्रशस्तियों को वह आदर की दृष्टि से नहीं देखता। आज वह विजय पर प्रसन्न होने वाले पांडवों के साथ नहीं, परिताप करने वाले पवित्र हृदय युधिष्ठिर के साथ है। युद्ध के प्रति कवि का यह दृष्टिकोण आज की विकसित मानवता का दृष्टिकोण है।

'दिनकर' के काव्य की भाषा साहित्यिक होते हुए भी, कभी दुरूह नहीं होती। इस प्रकार 'प्रसाद' गुण की रक्षा वे अभिव्यक्ति के ऊँचे स्तर पर भी कर सकते हैं। कुरुक्षेत्र को, भाषा की प्रांजलता और प्रसाद गुण के साथ ओज के संयोग ने, बड़ा प्रभावशाली बना दिया है। शब्दों का प्रयोग इनका कहीं-कहीं अभी अपरिपक्व ढंग का है। 'पै' 'जिनने' 'तलक' और 'अनेकों' को ये भी अपनी कविता से अभी तक हटा नहीं पाये हैं। एक स्थान पर 'हुक्म' का प्रयोग मुझे कुछ खटकनेवाला लगा। इस प्रबंध-काव्य में इन्होंने कवित्त-सवैया और मात्रिक छंदों को अपनाया है। प्रथम सर्ग में छंद के साथ कई प्रयोग इन्होंने किए हैं। वहाँ छंद की ध्वनि और लय सभी कहीं विद्यमान हैं; लेकिन पंक्तियाँ कहीं छोटी हैं, कहीं बड़ी। यहाँ इन्होंने छंद को तुकांत रखने की चिंता भी नहीं की। भावना के मुक्त प्रवाह की दृष्टि से यह प्रयोग बड़ा स्वाभाविक और सफल बन पड़ा है। पंत जी ने 'पल्लव' में ऐसे प्रयोग बहुत पहले किए थे। परंपरा को इस प्रकार तोड़ना कहीं-कहीं बहुत अच्छा लगता है। जिस काल में मुक्त छंद का प्रयोग बढ़ रहा था, उसमें कवित्त-सवैयों की सफल रचना करके इन्होंने छंद-प्रयोग के क्षेत्र में अपने साहस का परिचय दिया। इससे इन्होंने यह धारणा भी निर्मूल सिद्ध कर दी कि ये रीतिकालीन छंद केवल मुक्तक के क्षेत्र में उपयुक्त सिद्ध होते हैं! इनके प्रयोग से 'कुरुक्षेत्र' में विचार की कड़ियाँ कहीं भी टूटी नहीं लगतीं।

आधुनिक प्रबंध-काव्यों में 'कुरुक्षेत्र' की तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती। 'साकेत' और 'प्रियप्रवास' में राम और कृष्ण के जीवन की यद्यपि

सभी प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किसी-न-किसी रूप में हुआ है, पर कथानक उनका सीमित-सा है। एक में कवि की दृष्टि उर्मिला पर है, दूसरे में ब्रजवासियों की व्यथा पर। कामायनी में कथा को सीधे कहने पर भी रूपक के आग्रह के कारण कथानक को प्रधानता नहीं मिल पायी। कुरुक्षेत्र में कथानक और भी क्षीण है—वह यहाँ-वहाँ केवल प्रसंगों में झलकता है। कहने का तात्पर्य यह कि बीसवीं शताब्दी के प्रबंध-काव्यों में सब से कम कथानक कुरुक्षेत्र में ही है।

कुरुक्षेत्र एक समस्या-प्रधान प्रबंध-काव्य है। समस्या है युद्ध की। युद्ध के वास्तविक रूप का चित्रण करने के लिए 'दिनकर' ने महाभारत के दो पात्रों—भीष्मपितामह और युधिष्ठिर—को चुना है; अतः कथावस्तु जितनी भी है, व्यास के महाभारत पर आधारित है। आधुनिक-काल में रामायण और महाभारत हमारे बहुत से कवियों की प्रेरणा का विषय रहे हैं। प्रेरणा 'दिनकर' ने भी स्पष्टतया महाभारत से ही ली है। यों उन्होंने इसके सृजन में अपनी एक अन्य रचना 'कलिंग-विजय' की चर्चा की है। उस रचना ने इस ओर इन्हें उन्मुख किया होगा, इसमें संदेह नहीं। मैथिलीशरण की उर्मिला ने उन्हें यशोधरा की ओर संकेत किया और संभवतः दोनों ने मिल-कर विष्णुप्रिया की ओर; इसी प्रकार 'हरिऔध' जी की राधा ने उन्हें राम की वैदेही की याद दिलायी। हमें विश्वास करना चाहिए कि अशोक का निर्वेद कबि को युधिष्ठिर के निर्वेद की ओर ले गया होगा। लेकिन मुझे कुरुक्षेत्र के मूल में गीता की गूंज सुनाई देती है। अंतर केवल इतना है कि एक में युद्ध के प्रारंभ में शंका उठायी गयी है, दूसरे में युद्ध की समाप्ति पर। अतः कुरुक्षेत्र की समता किसी से की जा सकती है तो गीता से।

इसका अंतिम सर्ग, जो इस प्रबंध-काव्य का सबसे लंबा सर्ग है और जिसमें मनुष्य के व्यक्तित्व और मानव-मूल्यों का विवेचन पितामह ने अपने दृष्टिकोण से किया है, महाभारत के 'शांति पर्व' से प्रभावित है। 'शांति पर्व' में भी उसी प्रकार पौरुष और दैव, स्वार्थ और लोकहित, पाप और धर्म तथा युद्ध और अयुद्ध की समस्याओं पर विचार किया गया है, जिस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' के सप्तम सर्ग में। यह बात मुझे इसलिए कहनी पड़ी कि अपने

'निवेदन' में 'दिनकर' जी ने महाभारत के प्रभाव को कुछ कम करके दिखाने की चेष्टा की है।

कुरुक्षेत्र का वास्तविक महत्व इस बात में निहित है कि अपने कथानक में देश-काल से सीमित होने पर भी वह अपने विस्तार में देशकालातीत है। उसमें सभी देशों की, सभी कालों की एक बहुत बड़ी समस्या को उठाया गया है—युद्ध की समस्या मानव-जाति के मस्तिष्क को निरंतर क्षुब्ध करने वाली सचमुच बहुत बड़ी समस्या है। महाभारत के संदर्भ में इस समस्या का समाधान इसलिए और भी महत्वपूर्ण लगता है कि वहाँ प्रश्न करनेवाले और उत्तर देनेवाले दोनों ही अप्रतिम हैं—युधिष्ठिर जैसे शांतिकामी जिज्ञासु और भीष्म पितामह जैसे वीर तत्त्ववेत्ता खोजने पर भी और कहाँ मिलेंगे ?

मैं 'दिनकर' जी के इस दृष्टिकोण की विशेष रूप से सराहना करता हूँ कि गांधीवादी होते हुए भी युद्ध के संबंध में उन्होंने गांधी जी के दृष्टिकोण को पूर्णतः नहीं अपनाया है। यदि मैं इस काव्य का आशय ठीक से समझ सका हूँ तो इस समस्या के संबंध में कवि का समाधान मुझे यह लगता है कि पृथ्वी पर मनुष्य की चेतना अभी इतनी विकसित नहीं हुई है कि युद्ध एकदम बंद हो जायँ। ऐसी दशा में न्याय के पक्ष में यदि हम युद्ध करने के लिए विवश हों, तो ऐसा युद्ध पाप कभी नहीं हो सकता। वर्तमान परिस्थितियों में मुझे यह समाधान बहुत विवेकपूर्ण लगता है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस कृति का मंतव्य एक आशावादी जीवन-दृष्टि का परिचायक रहेगा; क्योंकि इसके अंत में, जीवन की विरक्ति को जीवन के प्रेम में बदल कर, एक महान् मांगलिक स्वर का सूत्रपात किया गया है।

नूरजहाँ

वर्तमान युग विशेषरूप से गीतों का युग, मुक्तकों का युग है। प्रबन्ध-काव्यों की ओर से एक प्रकार की उदासीनता ही प्रदर्शित हो रही है। उपाध्याय जी ने प्रिय-प्रवास और गुप्त जी ने साकेत के द्वारा उस कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया। प्रिय-प्रवास तथा साकेत काव्य के लक्षणों से पूर्ण होने पर भी कथानक की दृष्टि से सीमित ही हैं। इसी से इस काल के कवियों की प्रगीत-मुक्तकों की ओर अत्यधिक अभिरुचि देखकर एक समालोचक ने कुछ दिन हुए ऐसी आशंका प्रकट की कि यह काल प्रबन्ध-काव्यों के ह्रास का काल है। गुरुभक्तसिंह जी की नूरजहाँ का जन्म इस आशंका को किंचित आश्वासन देने को हुआ। इस ग्रन्थ में काव्यत्व की भी पूर्ण रक्षा हुई है और प्रबन्ध की भी। नूरजहाँ को हम रामायण, पद्मावत जैसे उत्कृष्ट काव्यों की पंक्ति में गिन सकते हैं।

नूरजहाँ की कथा चिरपरिचित है, क्योंकि उसका आधार ऐतिहासिक है। सलीम (जहाँगीर) मेहरुन्निसा (नूरजहाँ), अफ़गन, ग़यास, अकबर, कुतुबुद्दीन आदि ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। कथा को रोचक बनाने एवं प्रबन्ध की गति को ठीक रखने के लिए बीच-बीच में रम्य कल्पना से काम लिया गया है। घटनाएँ भी प्रायः ऐतिहासिक हैं। ग़यास का अपने देश को छोड़ना, मेहर का शाही महल में आना, मेहर-अफ़गन का विवाह, अफ़गन का वध, मेहर की चार साल तक जहाँगीर के प्रति उदासीनता और अन्त में नूरजहाँ का आत्म-समर्पण, सत्रहवीं शताब्दी के ऐतिहासिक सत्य हैं।

प्रबन्ध-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उसमें एक प्रसंग की शृंखला दूसरे से बनी रहे—कथा धारावाहिक रूप में बहे। नूरजहाँ की कथा सुचारु गति से बहती है; पर कवि यदि अनारकली की मार्मिक-कथा के नीलम-पर्वत को बचाकर निकलता तो प्रबन्ध की दृष्टि से कथानक और उत्कृष्ट हो जाता। तीन सर्गों में जो उसकी कथा कही गई है, 'नूरजहाँ' में

उसकी कोई सार्थकता नहीं है। अनारकली के प्रेम, उसके बन्दी जीवन, निष्कासन और मृत्यु की घटनाएँ मर्म-स्पर्शिणी होने पर भी प्रबन्ध की दृष्टि से खटकती हैं। यह सत्य है कि कवि द्वारा चित्रित उस 'परियों की सुन्दरी रानी' का रूप अनुपम, उसके नृत्य की भाव-भंगी मनोरम, सलीम के प्रति उसका प्रेम सराहनीय, अकबर को उसकी फटकार वांछनीय और उसकी मृत्यु करुणोत्पादक है; पर यह एक पृथक कहानी है। कथानक से उसका कोई लगाव नहीं है। वह कहानी सलीम का विलासी जीवन चित्रित करने के लिए ही यदि लाई गई होती, तो उसका संकेत मात्र यथेष्ट था। सलीम ने लाहौर में उसकी समाधि बना और उस समाधि से घंटों चिपटकर रो-रोकर जो अपने प्रेमी-हृदय का परिचय दिया है, वह उस समय झूठा पड़ता दिखाई देता है, जब आगे के सर्ग में ही वह मेहर के प्रेम-पाश में पड़ जाता है। अनार के प्रति वह उद्दाम प्रेम इतनी जल्दी ठंडा पड़ जायगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। लाहौर में अनारकली की समाधि के साथ उसकी स्मृति की समाधि भी बन गई, यह बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक असत्य है। जो एक मुख को देखकर दूसरे मुख को भूल जाते हैं, या किसी की आँख मीचने पर आँख फेर लेते है—उनसे प्रेम शब्द का उच्चारण समझकर कराना चाहिए। आगे के कथानक को भी इस कहानी से कोई सहायता नहीं पहुँचती। इसी प्रकार अपनी पत्नी प्रेमलता के समझाये जाने पर नाहरसिंह का अफ़गन के वध से विरक्त होने वाला प्रसंग भी अधिक महत्व नहीं रखता। उस कार्य के लिए कुतुबुद्दीन की कथा ही पर्याप्त है।

इन प्रसंगों को छोड़कर यदि हम नूरजहाँ पर दृष्टि डालें, तो हमें गुरुभक्त सिंह जी की सुरुचि एवं प्रतिभा का पता चलता है। अपने नायक-नायिका को उन्होंने उच्च कुल का ही रखा है। इसका नायक एक मुग़ल-सम्राट् है और नायिका का साक्षात्कार सलीम से यद्यपि साधारण परिस्थिति में होता है, पर वह भी धनी वंश की बालिका थी। इस काव्य में अठारह सर्ग हैं और प्रसंगानुकूल सर्ग-सर्ग में छन्द बदलता चलता है। रसों में शृंगार की प्रधानता है। बीच-बीच में करुण का पुट है। मेहर की लड़की लैला की अवतारणा से लोरी द्वारा वात्सल्य भी अपनी बानगी दिखा रहा है। कथा

नूरजहाँ की प्राप्ति में, जो इसका लक्ष्य है, समाप्त होती है।

नूरजहाँ की बहुत सी घटनाओं को वहीं तक बढ़ाया गया है, जहाँ तक वे कथानक में बाधक न हों। मेहर के वंश का परिचय देने के लिए और यह बतलाने के लिए कि वह अन्य प्रदेश की बालिका थी, कवि ने ग़यास और उसकी बेग़म की चर्चा मेहर के जन्म तक ही की है, यद्यपि इस बात की उत्सुकता बराबर बनी रहती है कि उनका क्या हुआ, पर उनकी कथा को बढ़ाना अनावश्यक होता। कुतुबुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् जमीला की कोई चर्चा नहीं की गई, क्योंकि जमीला की अवतारणा केवल इसलिए हुई है कि वह अपने डाह के प्राबल्य से मेहर को सलीम से पृथक करे। यह कार्य उसने किया। पर सलीम उसके प्रेम के थोथेपन की परीक्षा ले चुका था। अतः मेहर के शाही महल में लौटने पर जमीला का अस्तित्व अर्थहीन है; इसलिए कवि ने उसे फिर स्मरण नहीं किया। इसी प्रकार अपनी नीचता से अनारकली की मृत्यु का कारण होने और सलीम को दूर करने का काम करने के पश्चात् अकबर भी काव्य-मंच से हट जाता है; क्योंकि प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से उसका कार्य पूरा हो चुका है। नाहरसिंह और प्रेमलता की प्रासंगिक कथा, जैसा पहिले कहा जा चुका है, एक प्रकार से व्यर्थ ही है। यदि उसके लिए कोई समाधान है तो यही कि वह एक हिन्दू नारी के हृदय की उज्ज्वलता के सहारे जमीला के चरित्र की पतितावस्था की तुलना करने में सहायक होती है। पर जमीला का चरित्र तो वैसे ही स्पष्ट है। सर्वसुन्दरी के अस्तित्व के दो मुख्य कारण हैं। मेहर की सखी के रूप में वह उसके हृदय के द्वन्द्व की पुकार हम तक पहुँचाती है; और यह सर्वसुन्दरी ही है जो मेहर को उसकी क्षणिक दुर्बलता से मुक्त करती है। अफ़गन और मेहर के ढाका छोड़ने पर तथा अफ़गन की मृत्यु पर भी कवि ने सर्वसुन्दरी के लिए बोलने का अवसर दिया है। प्रथम अवसर पर वह भविष्यवाणी करके चली जाती है, पर अफ़गन की मृत्यु पर मेहर के सामने जब वह कहती है कि 'फूला हुआ गर्व में इतना, अरे! बुदबुदे! फूट गया' तो बाह्य दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि कम से कम मेहर की इस दीनावस्था में सर्वसुन्दरी को चुप रहना चाहिए था। पर कवि ने सर्वसुन्दरी के मुँह से जीवन की निस्सारता

दिखाते हुए जो कठोर शब्दों की वर्षा कराई है वह केवल अफ़गन के चरित्र को सामने रखकर।

मेहर इस काव्य की नायिका है; अतः उसकी मूर्ति खड़ी करने में विशेष कौशल अपेक्षित है। वह बाह्य और आन्तरिक सौंदर्य से सम्पन्न है। उसके जन्म पर क़वि ने उसे 'भूमंडल की मुँदरी का सुघर नगीना' कहा है। बड़ी होने पर वह किरण-जाल सी उज्ज्वल दिखाई देती है, उसके अंग-प्रत्यंग में चपला खेलती है। उसका यौवन घनघटा सा उठता है। उस पर भगवान् ने उसे वह भोलापन दिया है जो 'सुन्दरता कहँ सुन्दर करई।' पर नूरजहाँ के चरित्र का प्राण है उसके हृदय का अंतर्द्वन्द्व। किसी के भी जीवन का यह सबसे बड़ा अभिशाप है कि उसका प्रेम किसी से हो, विवाह किसी से। मेहर इसी प्रकार की एक अभिशाप-ग्रसित नारी है। इस पर भी अँधेरी रात में वेश बदल कर उसके पति की हत्या करने की इच्छा से आने वाले अपने प्रेमी को करारा जवाब देकर उसने जो कर्त्तव्य की वेदी पर प्रेम का बलिदान किया है, उसके कारण वह कितनी कौतुक की वस्तु लगती है, कितनी प्यारी और प्रशंसनीय! यह नहीं कि उसके जीवन में मानसिक दुर्बलता न आई हो। एक बार वह संबन्ध-विच्छेद की बात भी सोचती है; पर उसका उत्तर-दायित्व उस पर नहीं, उसके पति पर है। अफ़गन था स्वभाव का रूखा, हृदयहीन, अत्याचारी। कला उसके लिए बला, प्रेम पागलपन, संगीत और साहित्य से उसे चिढ़, रमणी कामपूर्ति का साधन। कहाँ तक क्षोभ उत्पन्न न होता। दोनों का संयोग ऐसा था जैसे कौए की चोंच में अंगूर। मेहर का वह क्षणिक आवेश था। पति की मृत्यु के उपरान्त भी उसने अपनी दृढ़ता का परिचय दिया है—एक बार तो आत्मघात के लिए सन्नद्ध होकर भी। अन्त में जहाँगीर अपने कौशल से ही उस पर विजय प्राप्त करने में सफल होता है और प्रेम-भावना सतीत्व-भावना को दबा देती है। वहाँ न झुकने पर नूरजहाँ देवी तो हो जाती, पर पत्थर की। वहाँ पराजय भी प्यारी लगती है। विश्वास नहीं होता कि विवाहोपरान्त अन्य सुखद स्मृतियों के साथ सलीम की स्मृति को विदा करने में वह पूर्ण रूप से समर्थ हुई थी—इस कराहने को तो सुनिये—

प्यारे दामन की पट्टी से,
बाँधे चोटों की टीस विदा।
उस मरु प्रदेश में खोई,
सरिताधारा के वारीश विदा।

वे हिचकी बनकर आते हैं,
आँसू बनकर हो गए विदा।
वे पीड़ा बनकर उठते हैं,
क़िस्मत बन कर सो गए, विदा।

सलीम एक विलासी शाहज़ादा है। इस काव्य में तीन रमणी मूर्तियाँ हैं—अनारकली, मेहरुन्निसा और जमीला। कवि ने तीनों के साथ उसके 'चुम्बन' 'आलिंगन' को दिखाया अथवा बताया है। उस जैसी स्थिति के व्यक्तियों का ऐसा चरित्र रहता है अथवा उन्हें ऐसी सुविधायें रहती हैं, यही दिखाना कवि का लक्ष्य है। जमीला के प्रति कोई गहरी अनुभूति उसके हृदय में नहीं है। सबसे प्रथम अनारकली उसके जीवन में आती है और आँधी की भाँति उसके अस्तित्व को झकझोर देती है। फिर मेहरुन्निसा का भोला सौंदर्य उसे मस्त बना देता है। जैसे आँधी उतरने पर वृक्ष फिर अपनी शान्त स्थिति में आकर मलयानिल के झोंकों का स्वागत करता है, उसी प्रकार सलीम ने अनार के पश्चात् मेहर के स्नेह को पोषित किया है। आदर्श प्रेमी न होने पर भी सलीम प्रेमी अवश्य है। हमारा विश्वास है कि यदि अनार आत्मघात न करती तो सलीम की प्रणय-सहचरी होती। किसी की स्मृति को लेकर जीवित रहने वाले प्रेमियों में से सलीम न था। उसके प्रेम के लिए एक स्थूल आधार की आवश्यकता थी। परन्तु जब वह प्रेम करता है, तब अन्धा होकर प्रेम करता है। प्रेम के लिए वह पिता से विरक्त हो सकता है, राज्य छोड़ सकता है, डाकू के समान किसी की हत्या करने को उद्यत हो सकता है। पर जिस पर उसकी दृष्टि पड़ गई वह उसके हस्तगत होना ही चाहिए। इसके लिए आप उसे कायर कह सकते हैं, धूर्त्त कह सकते हैं, और चाहें तो 'प्रेम में कुछ भी अनुचित नहीं' वाले सिद्धान्त के

आधार पर 'कोई बात नहीं है' कहकर उसे क्षमा कर सकते हैं। जो अफ़गन की हत्या करा सकता है, वही चार वर्ष तक मेहर को स्पर्श करने में भी विवश रहे, प्रेम की वह कठोरता और यह कोमलता कैसी विलक्षण है!

शेर अफ़गौन को हृदयहीन बनाने में कवि ने बड़ी चतुराई से काम लिया है। उसका गार्हस्थ्य जीवन इतना शुष्क है कि मेहर के सौंदर्य और प्रकृति-प्रेमी कोमल हृदय का समझना तो दूर, अपनी नन्हीं सी कोमल बच्ची लैला को भी वह अकारण उठाकर पटक देता है और पद के मद में इतना अन्धा है कि प्रजा को साधारण अपराध पर धर्म-परिवर्तन की धमकी देता और धर्म-परिवर्तन न करने पर एक निरीह प्राणी की हत्या करता है। उसकी हृदय-हीनता मेहर के हृदय में अपने प्रेमी की सुखद स्मृति का घाव हरा रखती होगी और अपरोक्ष रूप से उस मिलन में सहायक हुई होगी जो नियति के द्वारा निश्चित था। उसका अत्याचार प्रजा की आँखों में भी जहाँगीर की धूर्त्तता पर पर्दा डालने में सहायक हुआ होगा; क्योंकि उसके वध पर मेहर को छोड़ कर शायद ही और किसी को दुःख हुआ हो। ऐसे अत्याचारी अधिकारी का मिटना ही कल्याणकारी था।

जमीला नीच प्रवृत्ति की एक स्त्री है—द्वेषमयी, कुटिल, व्यंग्यमयी और अधम। कहीं भी किसी उच्च प्रवृत्ति का उसने परिचय नहीं दिया। दो मिले हुए हृदयों को वह दूर करती है और मेहर को वाक्य-बाणों से छेदती है। प्रेम की अत्यन्त हल्की धारणा उसके सामने है। न वह अपनी हमजोली की हो सकती थी, न अपने प्रेमी की और न अपने पति की। उसके शब्दों से ही उसके आचरण का पता चलता है—

(अ) यदि नाम जमीला है मेरा पानी में आग लगा दूँगी।

(आ) प्रेमी और प्रेमिका जैसे जीते मरते हैं सौ बार।
वैसे ही ज़ुबान ही से मैं भी मरने को थी तैयार॥

(इ) इससे मेरा अनुभव मानो, युवती बूढ़े से ब्याह करो।
फिर कौन पूछने वाला है चाहे सफ़ेद या स्याह करो॥

वर्णन की दृष्टि से नूरजहाँ का विशेष महत्व है—क्या प्रकृति वर्णन, क्या भावों का स्पष्टीकरण और क्या मुद्राओं का अंकन। ग़यास के चरित्र में मातृभूमि का प्रेम, अनारकली के चरित्र में प्रेम का महत्त्व, अकबर के रूप में धूर्तता का चित्र, जमीला के रूप में नारी हृदय में भयंकर डाह का स्वरूप, अफ़गन के चरित्र में रूखेपन और अत्याचार का चित्र, लैला के रूप में वात्सल्य का आलंबन तथा नूरजहाँ के रूप में प्रेम और सतीत्व का द्वन्द्व अंकित किया है। जहाँ प्रेम, शोक, चिन्ता, क्रोध, ईर्ष्या आदि के अवसर आये हैं वहाँ कवि ने पात्र विशेष की आकृति को भी प्रभावित किया है, जिससे भाव विशेष पाठक के कलेजे में सीधा उतरता है। ग़यास की बेग़म की खीजभरी यह मुद्रा देखिये जो नाटकीय प्रभाव लिए हुए है—

तमक उठी रिस से वह वाम
डीट एक लटनागिन को—
जो लख ललाट पर स्वेद ललाम—
लटक, चाटने चली ओस थी,
उसे झटक कर पीछे कर,
एक फिसलती वक्र दृष्टि से
प्रियतम को लख आँखें भर

या मेहर-सलीम के आकर्षण-प्रसंग में मेहर के इस स्वर्गीय भोलेपन पर मुग्ध हुजिए—

एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है।
उसने कहा अपर कैसा ? वह उड़ है गया स-पर है॥
उत्तेजित हो पूछा उसने, उड़ा ? अरे वह कैसे ?
'फड़' से उड़ा दूसरा बोली, उड़ा देखिए 'ऐसे'।

नूरजहाँ प्रकृति का तो 'क्रीड़ा-सदन' है। उसमें वसंत, ग्रीष्म, पावस, शीत ऋतुएँ अपनी विशेषताओं को लिए खेलती हैं, उसमें प्रभात, संध्या, रात्रि अपनी स्फूर्ति, उदासीनता, सौन्दर्य से भरे हुए बसते हैं। नूरजहाँ का

कवि प्रकृति के प्रत्येक रूप पर मुग्ध है ! नूरजहाँ की कथा फ़ारस के वसंतोत्सव से प्रारंभ होती है और उसका अन्त काश्मीर के रम्य शालामार उद्यानों के बीच होता है, जहाँ प्रकृति की सहायता से सलीम नूरजहाँ के उदासीन हृदय पर विजय प्राप्त करता है। जो अपने हास्य की सार्थकता यह लिखने में ही समझते हैं कि अब 'ओवरकोट, बन जाने से 'आज बरसि जा मेरे कनबज पै कंता एक रैनि रह जायँ' जैसी पंक्तियों की मार्मिकता नष्ट हो गई,' वे नूरजहाँ के अन्तिम सर्ग में सरितट पर कर पर कपोल रखे चिन्ता-निमग्ना मेहर के अन्तर में प्रवेश करके यह जानने का प्रयत्न करें कि उसके हृदय की हलचल में 'थी फ़ुहार पड़ रही' का कितना भाग है। वे उससे पूछें कि तुम 'ओवरकोट' पहनना पसंद करोगी ?

गुरुभक्तसिंह जी का प्रकृति-वर्णन कई दृष्टियों से सराहनीय है। प्रकृति मानव-जीवन की सहचरी है। उन्होंने मानव-जीवन और प्रकृति में पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया है। नूरजहाँ का जन्म ही प्रकृति की गोद में होता है। क्षितिज-गर्भ से ज्योंही नव ऊषा का नभ पर जन्म होता है, त्यों ही तृण-दल पर ओस बिन्दु सी कन्या खेलने लगती है। पूर्णयौवना होने पर उषाकाल में मेहर एक अल्हड़ बालिका सी सो रही है । प्रभात-पवन उसकी बिखरी अलकों से लहरा कर क्रीड़ा करता है। उसे देखने के लिए ज्योति-कुमारी वातायन से झाँकती है। एक किरण उसके उड़ते अंचल से आँख-मिचौनी खेलती है। दूसरी किरण धीरे छूकर मेहर को जगाने का उपक्रम करती है तथा उसके करवट लेते ही डर कर उसके बालों में छिप जाती है। कैसा रम्य चित्र है !

हृदय ताल पर उठते गिरते थे हारों के मोती।
अल्हड़ एक बालिका अब भी पड़ी हुई है सोती॥
बिखरे केश प्रभात पवन से क्रीड़ा कर लहराते।
शय्या की सूखी कलियों पर लोट-लोट बल खाते॥
वातायन से झाँक रही थी झुक-झुक ज्योति कुमारी।
रत्नाभूषण किरण-जाल में फँस सी गई विचारी।

एक किरण उड़ते अंचल से आँखमिचौनी खेली।
खुले हुए अंगों से उसके फिर करती अठखेली॥
एक ज़रा धीरे ही धीरे छूकर बदन जगाती।
करवट के लेते ही डरकर बालों में छिप जाती॥

प्रेमियों का क्रीड़ा-क्षेत्र भी कवि ने प्रकृति का अंचल ही रखा है। यमुना शांतभाव से बह रही है। उसके वक्ष पर तटवर्ती प्रासादों के प्रति-बिम्ब-शिशु निश्चल सोते हैं। वहीं एक सुदृढ़ किले में सुन्दर महल के एक सर के किनारे जहाँ द्रुम-लताएँ फूल भार से झुकी हैं, जहाँ मद्यप मिलिंदों की पुष्पों से छेड़-छाड़ चलती है, वहीं परियों की रानी सुन्दरी अनारकली का नृत्य सलीम मुग्ध दृष्टि से देखता है। इसी प्रकार जिस शाही उपवन में सलीम-मेहर का प्रथम परिचय होता है, इसमें भी विविध प्रकार के वृक्ष, विविध प्रकार के पक्षी एकत्रित किये गये हैं। वहाँ सलीम कबूतरों का तमाशा देख रहा है। मेहर गुलाब चुनती आती है और सलीम का एक कबूतर उड़ाकर उसके प्राण के कबूतर को भी संकट में डाल देती है।

प्रकृति और घटनाओं को कवि ने इस सुरुचि से सजाया है कि उनके संयोग का प्रभाव बड़ा गहरा पड़ता है। इधर मेहर दुलहिन है तो वसन्त में प्रकृति भी दुलहिन बनी हुई है। सलीम जब मेहर के पति की हत्या करने जाता है तब पावस ऋतु है और घोर अंधकार। इसी प्रकार इधर सर्वसुन्दरी के पति की चिता जलती, उधर संध्या का विषादमय वातावरण घिरता है। अवसर के अनुसार प्रकृति भी मानव-दुःख में रँगी दीखती है। एक टीले पर बैठी दुखिया अनारकली को निर्झर रोता हुआ और सरि विरह-व्यथा में तड़पती हुई सागर की ओर जाती दिखाई देती है।

गुरुभक्तसिंह जी के प्रकृति-वर्णन की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने प्रकृति के चिरकाल से उपेक्षित भूले अंगों का अंकन किया है। काफ़िले के वर्णन में जहाँ कवि ने पर्वतों और नफ़लिस्तान का वर्णन किया है, वहाँ वह शुष्क पहाड़ों, कटीले झाड़ों, बालू के संसार, जलती आग, विकट वीरान, मटीले मैदान और बनबिलाव को भी नहीं भूला है। आगे चलकर उन्होंने

'काँडर' के पीत पुष्पों को देखा है, नदी किनारे पर 'झाऊ' देखी है, गन्ने के रस की गंध से मलयानिल को मत्त किया है, रसाल की मटर-कुसुम से आँखें लड़ाई हैं। उनकी दृष्टि मैदानों में बिछी 'कौडिल्ला' घास पर, बन गोभी से पीले टीलों पर गई है। उनकी तितली 'मेथी' में बिचरती है, 'सोये' में सोती है। इसी प्रकार वे कपास और अरहर को भी नहीं भूले हैं।

अतः इस प्रबन्ध-काव्य में निरीक्षण की सूक्ष्मता, वर्णन की स्पष्टता और सबसे अधिक भाषा की सरलता सराहनीय है। कहीं-कहीं जैसे सत्रहवें सर्ग में नक्षत्रों (मिथुन, कन्या, ज्येष्ठा, ध्रुव आदि) को लेकर कल्पना के साथ कवि ने खिलवाड़ की है। मुहावरों का इतना प्रचुर और सुन्दर प्रयोग अन्यत्र मिलना दुर्लभ ही है। जमीला के ईर्ष्या भरे व्यंग्यों की सफलता मुहावरों के सफल प्रयोगों पर निर्भर है। 'इक' 'तलक' जैसे शब्दों का प्रयोग यदि बचाया जा सकता, तो अच्छा होता। कहीं-कहीं छन्दों में मात्रा कम और अधिक भी हैं। किन्तु ये दोष नगण्य से हैं। स्थल-स्थल पर फ़ारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग उनके तत्सम रूप में स्वतंत्रता से किया गया है, पर भाषा में दुरूहता कहीं नहीं है।

दूर देश की एक साधन-हीन बालिका किस प्रकार भारत के मुग़ल शासक की शासिका हुई, इसका स्थूल वर्णन यद्यपि इतिहास में रक्षित है; परन्तु उसके प्राणों की वास्तविक हलचल का दर्शन नूरजहाँ-काव्य में ही प्राप्त होता है।

गो-दान

'गो-दान' आधुनिक भारतीय जीवन का दर्पण है। यह सामान्य और मध्यवर्ग की समस्याओं को लेकर चला है। प्रेमचन्द जी ग्राम्य-जीवन को चित्रित करने में कैसे सिद्ध-हस्त थे, यह किसी से छिपा नहीं है। पर आज के किसान और मज़दूर के दरिद्र और परवश-जीवन को बिना ज़मीदार और मिल मालिक के कारनामों के नहीं समझा जा सकता। पटवारी, सूद-ख़ोर, पुलिस, जो ज़मींदार और मिल-मालिक की पंक्ति में ही बैठकर किसान के जीवन पर जोंक की भांति काम करते हैं, उनके बिना उसकी दयनीय दशा का ठीक स्वरूप दृष्टि-गोचर नहीं हो सकता। इसी से गो-दान की कहानी भी एक किसान को लेकर चली है, जिसके चारों ओर मध्यवर्ग का जीवन भी घूमता है। सामान्य किसान के सब गुण-अवगुण उसमें विद्यमान हैं। किस प्रकार अपनी परिस्थितियों और संस्कारों से पिसता हुआ वह दरिद्र प्राणी करुण मृत्यु प्राप्त करता है, किस प्रकार सभी का पेट भरता हुआ वह स्वयं अपने जीवन की किसी सामान्य इच्छा को पूर्ण करने में असमर्थ रहता है, किस प्रकार पापियों को क्षमादान देने वाला, लांछितों को सहानुभूति बाँटने वाला और आपद्ग्रस्तों को शरण देने वाला व्यक्ति स्वयं कितना निस्संबल है, यही सब कुछ दिखाना गो-दान का लक्ष्य है।

इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है 'होरी'। वह भारतीय किसान का प्रतिनिधि है। प्रारम्भ में ही उसे ज़मींदार की खुशामद करने वाला व्यवहार-कुशल व्यक्ति चित्रित किया गया है। उसके जीवन की सबसे बड़ी साध है गऊ से द्वार की शोभा बढ़ाना और प्रातःकाल उसके पुण्य दर्शन कर कृत-कृत्य होना। मनोविज्ञान के दो सामान्य नियमों—सहानुभूति और प्रशंसा के मूल्य को वह जानता है। सहानुभूति दिखाकर वह भोला से गाय झपटने में समर्थ होता है और गुणों की प्रशंसा करके वह अपनी स्त्री धनिया को स्वयं इस बात पर राज़ी करता है कि वह भोला को भूसा देने में आना-

कानी न करे। सब से अधिक उसकी दरिद्रता दर्शनीय है। ज़मींदार से मिलने जा रहा है, पर उसकी मिर्जई तक फटी हुई है। इसे भी धनिया ने पाँच साल हुए ज़बरदस्ती बनवा दिया था। यह दरिद्रता उसके आलस्य के कारण न थी; क़र्ज के कारण थी। बिसेसरसाह, दुलारी, मँगरूसाह, झिंगुरीसाह, नोखेराम, नोहरी, पं० दातादीन सभी का वह देनदार है। कुछ ज़मीदार लेता है, कुछ महाजन। कर्ज से उसे कभी छुटकारा नहीं मिलता। इस दरिद्रता में उसके हृदय की उदारता सराहनीय है। यह जानते हुए भी कि उसके भाई हीरा ने गाय को विष दिया है, उसके भाग जाने पर सङ्कट के दिनों में वह उसकी स्त्री पुनिया की देखभाल करता है। झुनिया को घर में आश्रय देने से वह भोला का बुरा बनता है और गाँव के पञ्चों को दण्ड देता है जिसके कारण वह सङ्कट में पड़ जाता है; पर झुनिया को आश्रयहीना नहीं छोड़ता। इसी प्रकार सिलिया चमारिन को भी, जो माता-दीन की प्रेमिका है, दुतकारे जाने पर होरी की झोपड़ी में ही स्थान मिलता है! उसका भ्रातृ-प्रेम भी सराहनीय है। अपने भाइयों के घर अलग करने पर उसे अपार वेदना हुई थी। चौधरी और पुनिया के झगड़े के समय उसका खून जोश मारता है और वह चौधरी को भला-बुरा कहता है। होरी की गाय देखने जब सब आते हैं और उसके भाई ही नहीं आते तो उसे बड़ी व्यथा होती है। यह भ्रातृ-प्रेम यहाँ तक बढ़ा हुआ है कि हीरा का नाम लेने पर, जो गाय को विष देने का दोषी है, होरी धनिया को पीटता है और गोबर के माथे पर हाथ रखकर सौगन्ध खाकर हीरा को निर्दोष सिद्ध करना चाहता है। आदर्श की दृष्टि से उसके जीवन के दो कृत्य निन्दनीय भी हैं—एक चौधरी बँसोर को बाँस बेचते समय भाव में गड़बड़ करना और दूसरा रूपा के विवाह में २००) लेना, जो एक प्रकार से लड़की बेचना ही है! पर ये दोनों कृत्य दरिद्रता की विवशता से उत्पन्न हुए। इतना सब कुछ होने पर भी होरी के जीवन में जो सरसता बनी हुई है वह है उसमें मनोविनोद की भावना के कारण। धनिया को पीट तक लेता है; पर क्षण भर में ही दोनों किसी बात पर हँस लेते हैं। दुलारी सहुआइन को देखकर तो उसकी चुहुल की वृत्ति सहसा उभर पड़ती है और उसे भाभी कह कर जो मन में आता

है कह लेता है। ऐसे प्राणी की मृत्यु पर एक गाय भी दान करने के लिए न हो, इससे अधिक जीवन की बिडम्बना और क्या हो सकती है ? दम तोड़ते हुए होरी को देखिए—

"धनिया को दीन आँखों से देखा; दोनों कोनों से आँसू की दो बूँदें ढलक पड़ीं। चीण-स्वर से बोला—मेरा कहा सुना माफ करना, धनिया। अब जाता हूँ। गाय की लालसा मन में ही रह गई। रो मत धनिया, अब कब तक जिलाएगी ? सब दुर्दशा तो हो गई। अब मरने दे।"

धनिया का चरित्र होरी के चरित्र से चिपटा हुआ है। सामान्य नारी की भाँति अपनी प्रशंसा पर मुग्ध होने की दुर्बलता उसमें भी है। भारतीय नारी की भाँति दुःख में वह अपसे पति की सदैव संगिनी रही। उसे माता का गीला हृदय प्राप्त है! इसी से वह झुनिया को अपने घर में आश्रय देती है और आगे चलकर गोबर के लड़के को स्नेह-पूर्वक स्मरण करके तड़प उठती है। उसके व्यंग्य बड़े तीखे होते हैं जिनसे होरी भी घबड़ाता है। उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि उसमें वाक्-संयम नहीं। इसी कारण वह कभी-कभी मार भी खाती है। सोना के विवाह के समय उसने कुल-मर्यादा का झूठा राग अलापकर अदूरदर्शिता का परिचय दिया।

होरी और धनिया के अतिरिक्त कुछ दूर तक चलने वाले सामान्य वर्ग के चरित्रों में गोबर-झुनिया एवं मातादीन-सिलिया के चरित्र हैं, तथा मध्यवर्ग में मेहता-मालती और खन्ना-गोविन्दी के। घर आने से पूर्व झुनिया का स्वभाव खासा चटपटा था। वे दोनों गाँव के रोमांस का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं, मालती और मेहता नागरिक रोमांस का। गोबर अपनी अदूरदर्शिता से मारा-मारा फिरा। पहिले वह मिर्जा के यहाँ नौकर हुआ, फिर खन्ना के यहाँ और फिर मालती के यहाँ। लखनऊ में रहने से उसकी रहन-सहन और बुद्धि में परिवर्तन होता है। नक़ल द्वारा यद्यपि गाँव वालों की आँखें खोलने में वह सहायक हुआ; पर अपने पिता की स्थिति न सुधार सका, इस बात का खेद बराबर बना रहता है। वह चाहता तो माता-पिता के जीवन को

सुखमय बना सकता था, पर ऐसी दशा में उपन्यास का प्रभाव भिन्न प्रकार का होता, क्षीण हो जाता।

मातादीन एक ढोंगी, बगुला-भगत, गुण्डा ब्राह्मण है। वह बाहर से ब्राह्मण है भीतर से चमार। रहन-सहन खानपान में विचार करता है, पर चमारिन को अपनी स्त्री बनाकर रखता है। अवकाश मिलने पर अकेले में किसी का भी हाथ पकड़ सकता है। चमारों ने उसके मुँह में हड्डी देकर उसकी धूर्त्तता का उचित दण्ड दिया है। कुछ दिन उसने सिलिया के साथ रूखा व्यवहार किया, पर बाद में अपने लड़के की मृत्यु पर उसका स्नेह उमड़ पड़ा और फिर आजीवन वह सिलिया के साथ रहा। पुनर्मिलन के समय सिलिया ने पूछा था, "एक चमारिन के साथ तुम ब्राह्मण होकर कैसे रहोगे ? उस समय मातादीन ने उचित ही उत्तर दिया था—"जो अपना धर्म पाले वही ब्राह्मण है, जो धर्म से मुँह मोड़े वही चमार है।"

स्त्री पात्रों में धनिया के उपरान्त हमारा सब से अधिक ध्यान आकर्षित करती हैं मिस मालती। उपन्यासकार के शब्दों में वे 'नवयुग की साक्षात् प्रतिमा हैं।' मिस्टर खन्ना को, जो मालती के रूप पर मुग्ध थे, उसने काफ़ी दिन उल्लू बनाया और वह प्रत्यक्ष ही खन्ना-गोविंदी में कलह का कारण हुई। यदि मेहता बीच में न आये होते तो गोविन्दी के जीवन का अन्त करुण ही होता। राय-साहब की पार्टी में जिस दिन मेहता ने अफ़गानी का हृदय हिलाने वाला अभिनय किया, उस दिन मालती उन पर मुग्ध हो गई। यह आकर्षण बढ़ता ही गया और अन्त में चिर-मित्रता में परिणत हुआ। मेहता से प्रेम के कारण ही शिकार के समय उसने एक काली जंगली लड़की के प्रति भी अपनी ईर्ष्या-भावना प्रकट की जिसमें न शिष्ट व्यवहार का ध्यान रहा था और न शिष्ट शब्दों के प्रयोग का। वह काली लड़की! निःस्वार्थ सेवा-भावना और आत्म-गौरव की प्रतिमूर्ति! मेहता ने बहिन कह कर हमारा-सन्देह दूर कर किया, नहीं तो मालती की प्रतिद्वन्द्विनी बनने की क्षमता उसमें थी। उसके चरित्र का विकास यदि लेखक ने किया होता, तो उपन्यास में एक प्रकार की विलक्षण गति और भिन्न प्रकार का रस आ

जाता। मुझे डर है वह उपेक्षिता किसी मैथिलीशरण का मर्म स्पर्श न कर दे! खैर!

मेहता के सम्पर्क में आकर मालती में सुधार होता है। उनकी बाह्य चञ्चलता आन्तरिक गम्भीरता में परिवर्तित हो जाती है और जब वह अपने जीवन का आनन्द गाँव के लोगों के प्रति सहानुभूति दिखाकर प्राप्त करती है, तब तो उस पर आश्चर्य ही होता है। एक दृढ़ चरित्रवान पुरुष के सम्पर्क में आकर तितली देवी हो गई।

मेहता एक दृढ़ पुरुष के प्रतीक हैं। पूरे जड़वादी हैं। मनुष्य को वे प्राकृतिक रूप में देखना चाहते हैं और जीवन को आनन्दमय बनाने के पक्षपाती हैं। नारी के विषय में उनका आदर्श ऊँचा है। आदर्श नारी को ही वे आदर्श पत्नी समझते हैं। इसी से गोविंदी को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। इसी श्रद्धा की प्रेरणा से मेहता ने गोविन्दी के पति खन्ना को मालती के प्रभाव से मुक्त किया। यद्यपि वे अनीश्वरवादी थे, पर सेवा-धर्म में विश्वास रखते थे। मालती में परिवर्तन उनके शुभ संयोग के कारण ही था। सब कुछ होकर भी वे थे फ़िलासफर ही। गृह-प्रबन्ध में वे असफल थे, इसी से वे एक हज़ार रुपये कमाने पर भी खाली हाथ रहते। यहाँ मालती उपयोगी सिद्ध हुई। मालती के हृदय में जो उनके प्रति स्निग्धता थी उसने मित्रता का रूप धारण कर दोनों की आत्मा को सदैव के लिए मिला दिया। दोनों के स्वभावों को देखते हुए चिर-मित्रता से अधिक उपयुक्त और अधिक स्थायी बन्धन उनके आकर्षण और रोमांस का नहीं हो सकता था।

'गो-दान' में ग्राम्य-जीवन का सफल चित्रण हुआ है। किसान के घर और बाहर के कई सुन्दर दृश्य उपन्यास में हैं। लू चल रही है, बगोले उठ रहे हैं, भूतल धधक रहा है; पर किसान काम कर रहा है। दूसरे स्थान पर खलिहान के दर्शन करते हैं, तो कहीं मड़ाई हो रही है, कहीं कोई अनाज ओसा रहा है, कोई गल्ला तोल रहा है। नाई, बारी, बढ़ई, लोहार, पुरोहित, भाट, भिखारी सभी अपने हक लेने के लिए जमा हो गए हैं। कोई अपनी सवाई उगाह रहा है, कोई गल्ले का भाव-ताव कर रहा है। यदि किसान का घर देखना हो, तो सोना के पति मथुरा का-आँगन देखना चाहिए। एक

कोने में तुलसी का चबूतरा है, दूसरी ओर जुआर के ठेठों के कई बोझ दीवार से लगा कर रखे हैं। बीच में पुआलों के गड्ढे हैं। समीप ही ओखल है जिसके पास कूटा हुआ धान पड़ा है। खपरैल पर लौकी की बेल चढ़ी हुई है और कई लौकियाँ ऊपर चमक रही हैं। दूसरी उसारी में एक गाय बँधी हुई है। खाने में जौ की रोटियाँ और अरहर की दाल का ज़िक्र भी आया है। मनोविनोद की दृष्टि से, घर में अनाज न हो, देह पर कपड़े न हों, गाँठ में पैसे न हों, पर देहात में साल के छः महीने में ढोलक मजीरा बजता है—कभी होली, कभी आल्हा, कभी कजली, कभी रामायण के बहाने। घर में मारपीट भी एक सामान्य बात है। पुनिया और धनिया इसकी सामग्री जुटाती हैं। गाँव में द्वेष-भावना भी प्रबल होती है। गोदान में उसके भी दर्शन होते है। होरी के भाई द्वेष-भावना से ही उसकी गाय देखने नहीं आते और हीरा तो गाय को विष देकर भाग जाता है। इसके अतिरिक्त गाँव में व्यभिचार भी खुले-छिपे चलता है। झिंगुरीसिंह ने ब्राह्मणी रख छोड़ी थी। पटेश्वरी पटवारी का अपनी विधवा कहारिन से सम्बन्ध था। नोखेराम ने भोला गूजर को उसकी स्त्री नोहरी के कारण ही आश्रय दिया था। पं० मातादीन सिलिया चमारिन से हिलगे हुए थे ही।

कथोपकथन में प्रेमचन्दजी को कमाल हासिल है। उनके कथोपकथन सजीव, पात्रों के अनुकूल, चरित्र स्पष्ट करने वाले और कथानक को बढ़ाने वाले होते हैं। वे आवश्यकता से अधिक न बड़े होते हैं और न अपनी मार्मिकता नष्ट करते हैं। उदाहरण के लिये प्रारम्भ में धनिया द्वारा होरी को कपड़े सौंपते समय, हीरा के आक्षेप पर रात में होरी के गाय लौटाने के निश्चय के समय, झुनिया और गोबर तथा मालती-मेहता के रोमांसकाल के, सोना और झुनिया के ननद-भाभी के मज़ाक तथा झिंगुरीसिंह की नकल के कथोपकथन, काफ़ी मनोरञ्जक हैं। एक उदाहरण लीजिये----

'यह तो पाँच ही हैं मालिक !'
'पाँच नहीं, दस हैं। घर जाकर गिनना !'
'नहीं सरकार पाँच है !'

'एक रुपया नज़राने का हुआ कि नहीं ?'
'हाँ, सरकार !'
'एक तहरीर का ?'
'हाँ सरकार !'
'एक कागद का ?'
'हाँ सरकार !'
'एक दस्तूरी का ?'
'हाँ, सरकार !'
'एक सूद का ?'
'हाँ सरकार !'
'पाँच नगद, दस हुए कि नहीं ?'
'हाँ, सरकार ! अब यह पाँचों भी मेरी ओर से रख लीजिये।'
'कैसा पागल है !'

'नहीं, सरकार ! एक रुपया छोटी ठकुराइन का नज़राना है, एक रुपया बड़ी ठकुराइन का ! एक रुपया छोटी ठकुराइन के पान खाने को, एक बड़ी ठकुराइन के पान खाने को। बाकी बचा एक, वह आपकी क्रिया-करम के लिए।'

पात्रों के चारों ओर के वातावरण पर भी प्रेमचन्दजी की दृष्टि रहती है। स्वतंत्र रूप से वसन्त के दो चित्र अनुपम माधुर्य लिए हुए हैं। यदि पात्रों के चरित्र पर वातावरण का प्रभाव ही देखना हो तो सोना के पति मथुरा और सिलिया को देखना चाहिये।

"बरोठे में अँधेरा था। उसने सिलिया का हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचा। ...सिल्लो का मुँह उसके मुँह के पास आ गया था और दोनों की साँस और आवाज़ और देह में कम्प हो रहा था।"

मानव-जीवन के बहुत से पहलुओं पर 'गोदान' में प्रकाश डाला गया है। उसमें किसान, जमींदार, कारकुन, पटवारी, साहू लोग, थानेदार, मिल-मालिक, मजदूर, आधुनिक शिक्षित लड़कियाँ, प्रोफ़ेसर, दलाल, सम्पादक,

सभी अपने वास्तविक रूप में आते हैं। जहाँ तक हो सका है सभी को और विशेष रूप से ज़मींदारों को व्यापक दृष्टि से देखा गया है। वे सन्तुष्ट हों; सुखी नहीं हैं। उनकी दुर्बलताओं को चित्रित भी किया गया है तथा कठिनाइयों को समझने का प्रयत्न भी किया गया है। रायसाहब शिक्षित ज़मींदारों के प्रतिनिधि हैं। वे दोनों रकाबों में एक साथ पैर रखते थे। राष्ट्रवादी भी थे और जी-हुजूर भी। जेल भी गये थे और सरकारी चर्मचारियों को डालियाँ भी देते थे, किसानों के प्रति सहानुभूति भी दिखाते और उनसे दण्ड तथा बेगार भी लेते। रायसाहब ने बार-बार उस वातावरण को दोषी ठहराया है जिसमें वे पले हैं। वे होरी के दण्ड के रुपये नोखे से अपने लिये माँगते हैं, यह नहीं कि होरी को वापिस दिला दें। वे सम्पादक को इसलिए लालच देते हैं कि उनके विरुद्ध वह कोई समाचार न छापे। इससे सम्पादक और जमींदार दोनों का स्वरूप स्पष्ट होता है। क़र्ज़दार होकर झूठी मान-मर्यादा में आकर वे व्यायाम-शाला के लिए मेहता को ५०००) चन्दा देने का वायदा करते हैं।

किसान और ज़मींदारों के अतिरिक्त डैमोक्रेसी, साम्यवाद, इलेक्शन, स्वछन्द प्रेम और महाजनी पर भी काफी छींटे फेंके गये हैं। स्त्रियों के समानाधिकार पर 'वीमेन्स लीग' में मिस्टर मेहता से एक व्याख्यान ही दिला दिया है। इसी प्रकार खन्ना की मिल में आग लगते समय मजदूर-संघ और हड़ताल आदि के दृश्य हमारे सामने आते हैं। मालती के द्वारा ग्राम-सुधार का दया-जनित हल्का स्वरूप भी, जो अधिक सक्रिय नहीं है, चित्रित किया गया है।

कहीं व्याकरण की या किसी पात्र का नाम पहिले कामिनी लिख कर आगे गोविन्दी लिखने की, या मेहता की पहिले आठ सौ रुपये आय बताकर फिर एक हज़ार बताने की बातें छोटी भूलें हैं, दोष नहीं। भाषा तो जैसे उनकी लेखनी से फिसलती, टपकती, बहती चलती है। मालती ने एक स्थान पर मेहता से पूछा है, "और यह पोथे कैसे लिख डालते हो?" मेहता उत्तर देते हैं, "उसमें तो विशेष कुछ नहीं करना पड़ता। क़लम लेकर बैठ जाता हूँ और लिखने लगता हूँ।" प्रेमचन्द जी ने भी स्वयं इसी सहज

भाव से लिखा है जैसे प्रेमचन्द के हाथ में लेखनी पहुँच गई और चलने लगी। समय के साथ प्रेमचन्द जी की भाषा और शैली में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। भाषा यद्यपि उनकी सरल, स्वाभाविक और पात्रानुकूल है, पर जहाँ गोदान में लेखक को स्वयं कुछ कहना पड़ा है, वहाँ प्रायः भाषा अन्य उपन्यासों से अधिक परिमार्जित मधुर और साहित्यिक हो गई है।

"वह अभिसार की मीठी स्मृतियाँ याद आईं, जब वह अपने उन्मत्त उसासों में, अपनी नशीली चितवनों में मानों प्राण निकाल कर उसके चरणों पर रख देता था। झुनिया किसी वियोगी पक्षी की भाँति अपने छोटे से घोंसले में एकान्त जीवन काट रही थी। वहाँ नर का मत्त आग्रह न था, न वह उद्दीप्त उल्लास, न शावकों की मीठी आवाज़ें; मगर बहेलिये का जाल और छल भी तो वहाँ न था।"

कला की दृष्टि से परखें तो 'गोदान' में बहुत से पुराने दोषों का परिहार हुआ है। इसके लिए 'रंगभूमि' की भाँति यह नहीं कहा जा सकता कि उपन्यास के कलेवर को प्रेमचन्द जी ने व्यर्थ बढ़ाया है। इसमें कथानक और चरित्रों का उपयुक्त सामंजस्य है। 'सेवा-सदन' की भाँति यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें सुधार-भावना प्रबल हो गई है। इसमें आदर्श के सामने यथार्थवाद का पलड़ा भारी ही है। म्यूनिस्पैल्टी के से रूखे थका देने वाले लम्बे प्रसंग भी इसमें नहीं हैं। जहाँ लम्बे प्रसंग हैं, वहाँ विश्राम के लिए ढंग निकाला गया है। राय साहब जब अपनी दशा होरी को समझाते हैं तो बीच-बीच में पान खाते जाते हैं, झुनिया जब एक साँस में अपनी अतीत-गाथा सुनाना चाहती है तो कहीं-कहीं बीच में गोबर टोक देता है, मेहता जब लम्बा व्याख्यान देते हैं तो दर्शक लोग आलोचना करते जाते हैं। 'ग़बन' की ज़ोहरा वेश्या की भाँति किसी की अस्वाभाविक मृत्यु नहीं दिखाई गई। सिलिया और मातादीन का पुनर्मिलन कराके प्रेमचन्द जी हमारी प्रशंसा के पात्र हुए हैं। उपन्यास के अन्तिम भाग में वे रायसाहब, खन्ना-गोविन्दी, मेहता-मालती, सिलिया-मातादीन का उचित निर्णय कर होरी की मृत्यु

के समय हीरा को बुलाकर हमारे हृदय पर ऐसा आघात करते हैं कि वह सदैव बना रहता है।

गो-दान भारत के गाँवों की भीषण दुर्दशा का निर्दय चित्रण है और कुछ लोगों को तो यह भी एक समस्या-उपन्यास ही प्रतीत होता है। यह दूसरी बात है इस उपन्यास में प्रेमचन्द जी की प्रतिभा पूर्ण विकास को पहुँच गई है और समस्या को कला ने गोद में ले लिया है।

अपढ़, अन्ध-विश्वासी, धर्म-भीरु, भाग्यवादी, दरिद्र, मर्यादावादी किसान आज के आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और राजनीतिक विधानों के जाल में फँसा हुआ पर-कतरे पंछी के समान फड़फड़ा रहा है। मुक्ति का मार्ग कहाँ है, ढूँढ़ नहीं पाता। पिसते-पिसते उसमें हीनता की भावना (Inferiority complex) प्रबल हो गई है जो और भी घातक है— प्रयत्न को कुंठित करने वाली, आत्म-चेतना को अपनी विषैली छाया से आच्छादित करने वाली। प्रेमचन्द जी के शब्दों में, "उनकी निरीहता जड़ता की हद तक पहुँच गई है, जिसे कोई कठोर आघात ही कर्मण्य बना सकता है।" यह संकेत ही है, समाधान नहीं। कौन-सा कठोर आघात? मज़दूर की भी ऐसी ही दयनीय दशा उन्होंने चित्रित की है, "आपके मजूर बिलों में रहते हैं—गन्दे, बदबूदार बिलों में— जहाँ आप एक मिनट भी रह जावें, तो आपको क़ै हो जाय। कपड़े जो वह पहनते हैं, उनसे आप अपने जूते भी न पोछेंगे। खाना जो वह खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न खायगा।" पर यह विश्लेषण है, व्यवस्था नहीं। इनके उद्धार के लिए क्या करना होगा? क्या समाज-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, आर्थिक-विधान को नष्ट-भ्रष्ट करना होगा? या केवल बदलना होगा? यदि किसी समर्थ साहित्यिक की दृष्टि में समाजवाद का मंगलमय स्वस्थ विधान घूम गया और इन समस्याओं का वह कोई सुझाव किसी उत्कृष्ट कृति के रूप में कभी दे सका, तो 'गोदान' निश्चित रूप से उसके विश्लेषण की प्रामाणिक भूमिका बन सकेगा।

गो-दान प्रेमचन्द जी की प्रौढ़तम रचना भी है और श्रेष्ठतम भी। यह उनकी अचल कीर्ति का स्मारक है। उनके अन्तर का कलाकार यहाँ पूर्ण सजग है। अत्यन्त स्वस्थ क्षणों में इस कृति का निर्माण हुआ है। पात्र

गोदान में उनके 'टाइप' ही है, 'व्यक्ति' नहीं, पर सभी को आकृति वर्णन के द्वारा उन्होंने व्यक्तित्व प्रदान किया है। पढ़ते ही नेत्रों के आगे एक मूर्ति घूम जाती है। उपन्यासों और कहानियों को पढ़कर प्रायः सामान्य युवक और सामान्य युवती का ही ध्यान होता है—स्वस्थ, सुन्दर, मधुर, कोमल। बहुत हुआ किसी की आँखें बड़ी बता दीं, किसी के कानों में इअरिंग पहना दिये, किसी के जूड़े में फूल गूंथ दिये। थोड़े से परिवर्तन के साथ यहाँ पात्रों से आपका परिचय इस प्रकार कराया जायगा कि आप उन्हें भीड़ में पृथक् कर सकें भूल न सकें—"झिंगुरीसिंह बैठे दतून कर रहे थे। नाटे, मोटे, खल्वाट, काले, लम्बी नाक और बड़ी-बड़ी मूँछों वाले आदमी थे, बिलकुल विदूषक जैसे।" 'थोड़ी देर में एक इक्केवाला रुपये माँगने आया। अलादीन नाम था, सिर घुटा हुआ, खिचड़ी डाढ़ी और काना।' 'चुहिया—दोहरी देह की, काली कलूटी, नाटी, कुरूपा, बड़े-बड़े स्तनों वाली स्त्री थी।' कबड्डी के खेल का वर्णन ही जिस रोचकता और स्पष्टता से किया है, क्या कोई विदेशी कलाकार वैसा वर्णन किसी क्रिकेट मैच का करेगा? रोमांस के दृश्यों के वर्णन में मन के यौवन की स्वस्थ गंध है। और गम्भीर स्थलों का तो कहना ही क्या? अन्तर का विश्लेषण एकदम चकित करने वाला है। प्रेमचन्द के पात्र बोलने से भी अधिक सोचते हैं। और सोचते क्या हैं... भीतर गहरे से गहरे उतरते चले जाते हैं। भारतीय किसान की सजीव मूक ममता 'गो' को [illegible] कौशल से कथानक में गूंथा है? बहुत गहरी द्रवणशीलता, स्थितियों के बहुत गम्भीर परिचय और चित्रण की महान् क्षमता के बिना, क्या यह सम्भव है कि वह बार-बार हमारे हृदय से खींचकर बरबस आँसू हमारी बरौनियों तक ले आवे? पता नहीं चलता कि अपने युग का यह सबसे सजग कलाकार, एकदम प्रकृत कलाकार, कब और कहाँ अपने पाठकों के हृदय को मथ देगा, मसोस देगा—और जो कलाकार, अपनी संस्कृत मर्मस्पर्शिता से हमें रुला नहीं सकता, उसे मैं बहुत छोटा और हल्का कलाकार समझता हूँ।

मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का नाम है। संसार में पाप कुछ भी नहीं है।

रत्नाम्बर ने अंत में यह भी कहा है : यह मेरा मत है—तुम लोग इससे सहमत हो या न हो, मैं तुम्हें बाध्य नहीं करता और न कर सकता हूँ।

चित्रलेखा के प्रबुद्ध पाठकों की प्रतिक्रिया की यदि हम चर्चा करें तो वे सभी कहेंगे : नहीं, हम इस निर्णय से सहमत नहीं हैं। यह इस उपन्यास के अध्ययन से निकला हुआ सार नहीं, लेखक का स्वतंत्र अभिमत है। उपन्यास के अंत में यह अलग चिपका हुआ लगता है।

प्रश्न यह है कि क्या चित्रलेखा में पाप-पुण्य का कोई वास्तविक समाधान प्रस्तुत किया गया है ?

हम समझते हैं—नहीं।

उपन्यास के आरंभ में हम आधी रात के समय सहस्रों दीपशिखाओं से आलोकित भवन में युवक बीजगुप्त और सौंदर्यशालिनी चित्रलेखा को छलकते हुए मदिरा के पात्र के साथ मौन अधरों से जीवन के सुख की व्याख्या करते हुए पाते हैं। निश्चित रूप से, विलास का यह एक अनुपम चित्र है। लेकिन इस चित्र को लेकर बीजगुप्त के संबंध में कोई धारणा बना लेना ठीक नहीं। कल्पना के इस इंद्रजाल के भ्रम में आकर उसे भोगी घोषित करना भी उचित नहीं। उसे पापी कहना तो और भी अन्याय की बात होगी। जैसा आगे चलकर स्पष्ट होता है, बीजगुप्त चित्रलेखा को अपने अंतःकरण के एक-एक अणु की भावमयी चेतना से प्यार करता है। इस प्यार के लिए वह बड़े से बड़ा त्याग करता है। अवसर मिलने पर भी वह जीवन-भर अविवाहित रहता है। चित्रलेखा उसकी वास्तविक प्रेमिका है—एकमात्र प्रेमिका। जिस दृश्य को हम देखते हैं, वह बीजगुप्त जैसे वैभवशाली सामंत के जीवन की स्वाभाविक गति है। वह एकांत जीवन का एक मधुर चित्र है, जिस पर से लेखक ने थोड़ी देर के लिए पर्दा उठा दिया है। बीजगुप्त पतनशील भोग का प्रतीक नहीं है; अतः उसे पाप के प्रतीक के रूप में नहीं देखा जा सकता। यदि पाप कुछ है तो उसका पता लगाने के लिए बीजगुप्त को चुनने में महाप्रभु रत्नाम्बर से भूल हो गई है।

चंद्रगुप्त की सभा में कुमारगिरि का चित्रलेखा से सामना होता है। वह चाणक्य का पक्ष लेकर योगी को निरुत्तर कर देती है; लेकिन यह भी सच है कि वहीं वह उसके तेज के सौंदर्य से भीतर-भीतर आकर्षित भी हो गयी है। इसके उपरांत वह उसका पीछा करती है। कुमारगिरि बार-बार उसे लौटाना चाहता है, वह उसे दीक्षा देने से स्पष्ट मना करता है; लेकिन चित्रलेखा अपनी भावना की तुष्टि के लिए सब कुछ छोड़कर उसकी कुटी में रहने लगती है। यह चित्रलेखा ही है जो योगी के अहं और मन में सुप्त प्रणय की भावना को बार-बार उत्तेजित करती है। परिणाम यह होता है कि कुमारगिरि विराग से अनुराग की ओर लौट आता है। चित्रलेखा के यह स्वीकार करने पर कि वह उसे प्रेम करती है और उसे प्रेम करने के लिए ही वहाँ आयी है, कुमारगिरि भी अपने हृदय की प्रणय-भावना उसके प्रति प्रदर्शित करता है। अपने समय की सबसे सुंदरी नर्तकी के साथ एक ही कुटी में निरंतर रहकर कुमारगिरि का अप्रभावित रह जाना असंभव-सी बात थी। चित्रलेखा आत्म-समर्पण करती है—मन से। इस घटना से कुमारगिरि को हम शरीर के भोग का दोषी ठहरा सकते हैं; लेकिन पापी तो नहीं ही कह सकते। फिर भी यह प्रेम की घटना नहीं थी—दोनों ओर से क्षणिक उत्तेजना की चिनगारी थी, जो शीघ्र बुझ गयी। चित्रलेखा लौट आती है और कुमारगिरि फिर अपनी साधना में रत होता है। ऐसी दशा में मुझे तो कुमारगिरि भी पाप का उपयुक्त माध्यम नहीं प्रतीत होता।

तब क्या चित्रलेखा का जीवन पाप का जीवन है?

सच बात यह है कि पाप की समस्या को उठाकर भगवतीचरण वर्मा किसी ऐसे कथानक की कल्पना नहीं कर सके या पात्रों के चरित्र को इस रूप में नहीं मोड़ सके, जिससे उस समस्या का समाधान हो सकता। कम से कम पाठकों का संतोष इस समाधान से नहीं होता। यह समाधान उन्हें आरोपित-सा लगता है। पाप की इस समस्या को वर्मा जी ने अपने काव्य-रूपक 'तारा' में भी उठाया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वहाँ अपनी बात वे कुछ अधिक सफलतापूर्वक कह पाये हैं।

तब क्या यह कल्पना की जाय कि जिस लेखक ने चित्रलेखा जैसी

उत्कृष्ट कोटि की कृति दी, वह इस बात को नहीं जानता था कि यह समाधान ऊपरी है, कि यह सच्चा समाधान नहीं है, कि यह कोई समाधान ही नहीं है।

यह त्रुटि इसलिए हुई है कि जहाँ तक चित्रलेखा में उठायी गयी समस्या का प्रश्न है, वहाँ व्यक्ति ने उसके उपन्यासकार को दबा दिया है। यहाँ भगवतीचरण वर्मा का स्रजनात्मक व्यक्तित्व उनके वास्तविक व्यक्तित्व के नीचे कुचल गया है। इस दिशा में उनका साहित्यिक व्यक्तित्व स्वतंत्र नहीं रह पाया, इसीसे चित्रलेखा में यह दुर्बलता शेष रह गयी है। अतः साहित्यिक कृतित्व की दृष्टि से चित्रलेखा में यदि कोई भारी कमी है तो वह उसकी समस्या का अपूर्ण समाधान ही है।

भगवतीचरण वर्मा मनुष्य के जीवन को नियति से शासित मानते हैं। नियति के दुर्दमनीय प्रभाव की यह भावना उनके साहित्य को—चाहे वह कविता हो या उपन्यास या नाटक—इस बुरी तरह से आच्छादित किए हुए है कि वह उनके व्यक्तित्व का 'ऑबसैशन' सा लगती है। इस उपन्यास के अंत में भी उन्होंने मनुष्य को नियति की क्रीड़ा का एक साधन ही माना है। वह उसे कर्ता या स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं करते। यह उनकी धारणा है—ग़लत। पता नहीं, यह बात उनके मन में कैसे बैठ गयी है? परिस्थितियों का मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है, पर वह उन्हें बदल भी देता है और बदलता ही है। सृष्टि का सारा विकास मनुष्य के इसी सचेष्ट प्रयत्न का फल है। सृष्टि के प्रारम्भ-काल से ही मनुष्य परिस्थितियों के विरुद्ध लड़ता रहा है। अतः इस निराशावादी भावना ने उनके हृदय में कैसे घर कर लिया है, कहा नहीं जा सकता। मनुष्य की परतंत्रता वाला अभिमत उनकी वैयक्तिक धारणा है। उनके इस एकपक्षीय मत से व्यापक सत्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्हें छोड़कर शायद ही कोई अन्य आधुनिक लेखक मनुष्य को इतना परतंत्र, इतना हीन, इतना दयनीय मानता हो।

इस उपन्यास में चित्रलेखा और कुमारगिरि जीवन के दो विरोधी पक्षों को प्रस्तुत करते हैं।

कुमारगिरि ब्रह्म का उपासक है, चित्रलेखा जीवन की प्रेमिका; कुमारगिरि शांति को जीवन का लक्ष्य मानता है, चित्रलेखा मादकता को; कुमारगिरि निर्जन को चुनता है, चित्रलेखा हलचल को; कुमारगिरि इच्छाओं को दुःख का मूल समझता है, चित्रलेखा उनकी पूर्ति को सुख का उत्स; कुमारगिरि ब्रह्म को सभी कहीं व्याप्त देखता है, चित्रलेखा समाज में मान्य ईश्वर को भी मनुष्य की कल्पना से निर्मित घोषित करती है। इस प्रकार कुमारगिरि और चित्रलेखा दो विरोधी दर्शनों के दो छोर हैं।

लेकिन अनुरागमयी चित्रलेखा और विरागवान कुमारगिरि जब एक दूसरे से टकराते हैं तो दोनों का व्यक्तित्व थोड़ा प्रभावित होता है। चित्रलेखा अपना सब कुछ त्यागकर ही कुमारगिरि के पास जा पाती है और कुमारगिरि अपने वैराग्य को तिलांजलि देकर ही चित्रलेखा का आलिंगन कर पाता है! अनुराग और विराग का यह मिलन क्षणिक है; क्योंकि दोनों जल्दी ही अपनी भूल स्वीकार कर अपने स्व-भाव को प्राप्त कर लेते हैं। इससे पता चलता है कि घोर अनुराग और घोर विराग का शाश्वत मिलन असंभव है।

बीजगुप्त प्रेम में विश्वास करता है। प्रेम ही उसका सबसे बड़ा जीवन-दर्शन है। वह थोड़ा यथार्थवादी भी है। यशोधरा जब उससे प्रकृति की रमणीयता की चर्चा करती है, तो वह उसके दूसरे पक्ष को उसे दिखा देता है—प्रकृति की अपूर्णता, प्रकृति की कुरूपता, प्रकृति की निर्ममता को। चित्रलेखा और कुमारगिरि के समान बीजगुप्त विचार के क्षेत्र में पूर्णतया स्वतंत्र नहीं प्रतीत होता। वर्मा जी ने उसी को अपने व्यक्तिगत विचारों का वाहक बनाया है। उनके नियतिवाद का सबसे प्रबल समर्थक वही है। मनुष्य के प्रत्येक कार्य में वह अदृश्य का हाथ देखता है और इसीसे जीवन के अज्ञात अंधकार में क्या छिपा है, वह जान नहीं पाता। मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र नहीं है, यह भावना भी वर्मा जी ने उसी के मुख से व्यक्त करायी है—

"मनुष्य परतंत्र है, परिस्थितियों का दास है, लक्ष्यहीन है। एक अज्ञात शक्ति प्रत्येक व्यक्ति को चलाती रहती है, मनुष्य की इच्छा का कोई मूल्य नहीं है, वह कर्ता भी नहीं है, साधन मात्र है।"

चित्रलेखा इस उपन्यास की प्रधान पात्री है। उसके जीवन के उतार-चढ़ाव उसके चरित्र को विलक्षणता प्रदान करते हैं। उसका विवाह होता है। पति को वह ईश्वर मानती है; लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि शीघ्र ही विधवा हो जाती है। वह संयम का जीवन व्यतीत करना चाहती है कि कृष्णादित्य नाम का एक युवक उसकी आँखों के सामने आ जाता है और वह बह जाती है। इस प्रणय-व्यापार में वह गर्भवती होती है और घर से निकाल दी जाती है। कृष्णादित्य आत्म-हत्या कर लेता है और चित्रलेखा एक नर्तकी के चंगुल में फँस जाती है। शीघ्र ही एक सुन्दरी नर्तकी के रूप में उसकी ख्याति फैलती है। और तब एक दिन सामंत बीजगुप्त उससे प्रणय की याचना करता है और चित्रलेखा उस आत्म-निवेदन को ठुकरा नहीं पाती। लेखक ने पति, कृष्णादित्य और बीजगुप्त के प्रेम को क्रमशः ईश्वरीय, प्राकृतिक और मादक ठहराया है। प्रेम के इतने रूपों का अनुभव करने पर भी चित्रलेखा की आत्मा जैसे कुछ और भी खोज रही है। संयोग से चंद्रगुप्त की सभा में योगी कुमारगिरि का उसे विरोध करना पड़ता है। बातचीत में कुमारगिरि को परास्त करने पर भी वह उसके तेज से अभिभूत होती है। इस प्रेम को लेखक ने अकारण प्रेम की संज्ञा दी है। लेकिन यह प्रेम जितना उद्दाम था, उतना अस्थायी भी सिद्ध हुआ।

भावों के ऐसे वैभव को भोगने वाली चित्रलेखा आकर्षण और प्रतिभा की पुतली है। यह सुन्दर भी है और विदुषी भी। विशालदेव ने उसे विचित्र, यशोधरा ने देवी और कुमारगिरि ने उसे असाधारण सुन्दरी बतलाया है।

चित्रलेखा ने सबसे अधिक सुख और सबसे अधिक दुःख बीजगुप्त को दिया है। दोनों सम्पन्न हैं, दोनो सुंदर, दोनों स्वस्थ, दोनों युवावस्था को प्राप्त, दोनों कलाकार, दोनों गुणी, दोनों यशस्वी। दोनों ओर कहीं कोई कमी नहीं है। इतना होने पर भी चित्रलेखा कुमारगिरि की ओर आकर्षित हो जाती हैं। इससे प्रेम के इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि स्त्री पुरुष के बीच आकर्षण कोई ऐसी स्थायी वस्तु नहीं है जिसमें कभी कोई परिवर्तन ही संभव न हो। इसमें बहुत कुछ परिस्थिति पर निर्भर करता है। ऐसी परिस्थिति खड़ी हो सकती है कि एक व्यक्ति को प्यार करता हुआ भी प्राणी समय आने

पर दूसरी ओर आकर्षित हो जाय। बीजगुप्त और कुमारगिरि भोग और विराग के चरम प्रतीक हैं; अतः प्रेम के क्षेत्र में कुमारगिरि बीजगुप्त का सच्चा प्रतिद्वन्द्वी है। जो प्राप्य है, उससे श्रेष्ठतर के प्रति व्यक्ति के मन में ललक रहती ही है। यह बात स्त्री और पुरुष दोनों के लिए सही है। यदि चित्रलेखा से बड़े व्यक्तित्व की नारी बीजगुप्त की आँखों के सामने पड़ जाती तो यह कहना बहुत कठिन है कि वह उसके प्रति आकर्षित होता अथवा नहीं। यशोधरा चित्रलेखा की तुलना में कहीं नहीं ठहरती, फिर भी बीजगुप्त का कुछ न कुछ झुकाव उसके प्रति हो ही गया है। अतः प्यार में इस बात के लिए निरंतर डरते रहना चाहिए कि किस समय न जाने क्या हो जाय! कुमारगिरि और चित्रलेखा का संबंध इसलिए टूटा है कि वह प्रेम और प्रेम की नहीं, अहं और अहं की, योग और भोग की, वासना और वैराग्य की टक्कर थी। दोनों को इस बात का पता बहुत बाद में चलता है। प्रारंभ में चित्रलेखा बहुत आवेश में है। कुमारगिरि से वह स्पष्ट कहती है : मैं तुमसे प्रेम करने आयी हूँ, तुम्हें प्रेम करती हूँ और चाहती हूँ कि तुम भी मुझे प्रेम करो और कुमारगिरि को एक दिन कहना पड़ता है : चित्रलेखा मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ।

इस बीच बीजगुप्त के प्रति चित्रलेखा का आचरण विश्वासघात की कोटि में आता है। बीजगुप्त से उसका यह कहना कि मैं संयम का जीवन व्यतीत करना चाहती हूँ, कि मैं तुम्हें विवाहित देखना चाहती हूँ, कि मैंने तुम्हारे जीवन को निरर्थक बना दिया था अतः दूर होना चाहती हूँ—सब झूठ है। इस झूठ को उसने पश्चाताप का जीवन व्यतीत कर बाद में धो दिया है। इस भूल का चित्रलेखा ने अपने को पूरा दंड दे दिया है।

सबसे आकर्षक चित्रलेखा वहाँ लगती है, जहाँ वह कला के प्रति गौरव की भावना व्यक्त करती है। चंद्रगुप्त की सभा में नृत्य बंद होने पर वह मंत्री चाणक्य को क्रोध की दृष्टि से देखती है। इसी प्रकार यशोधरा के जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में अनुनय करने पर वह नृत्य करने को तैयार होती है। इतने में कुमारगिरि के आने की सूचना मिलती है और मृत्युंजय वीणा बजाना बंद कर उसका स्वागत करने चले जाते हैं। उस समय चित्रलेखा आवेश में आकर कहती है, "मैं अब जाऊंगी। मेरा काफ़ी अपमान हो चुका है।" पूछने

पर वह बतलाती है, "मेरी दृष्टि में कला का सर्वोच्च स्थान है। जो मनुष्य कला का अपमान करता है; वह मनुष्य नहीं है, पशु है।" चित्रलेखा में स्वाभिमान की यह भावना सचमुच स्पृहणीय प्रतीत होती है।

बीजगुप्त मौर्य साम्राज्य का एक शक्तिशाली सामंत है। वह चित्रलेखा का प्रेमी है। प्रारंभ में वह एक विलासी नागरिक ही प्रतीत होता है; पर जैसे-जैसे कथानक विकसित होता है, वैसे ही वैसे वह अपने गुणों से हमें चमत्कृत करने लगता है। चित्रलेखा का वह बहुत आदर करता है। आदर प्रेम का प्रधान अंग है। जो व्यक्ति अपनी प्रेमिका का आदर नहीं कर सकता, वह उसे प्रेम भी नहीं कर सकता। चित्रलेखा उसकी आँखों के सामने ही कुमारगिरि के प्रति आकर्षित होती है; पर वह उससे कोई ऐसी बात नहीं कहता जिससे उसके प्रति असम्मान की भावना प्रकट हो। वह न तो कुमारगिरि के मार्ग में कोई बाधा डालता है और न चित्रलेखा के। जो कुछ बीतता है वह उसे केवल सहन करता है। उपन्यास के अंत में जब चित्रलेखा अपना अपराध स्वीकार करती है, तो वह उसे सच्चे हृदय से क्षमा कर देता है। कुमारगिरि को कुटी से लौटने पर पश्चातापमयी चित्रलेखा को दोबारा स्वीकार करना उसके बड़प्पन का अनुपम उदाहरण है। इससे भी विलक्षण व्यवहार उसने श्वेतांक के प्रति किया है। श्वेतांक एक बार चित्रलेखा के प्रति आकर्षित हो उठा था। बीजगुप्त इस बात को जानता है और हँसकर टाल देता है। वह यह भी जानता है कि श्वेतांक यशोधरा को प्रेम करने लगा है। परिस्थिति ऐसी खड़ी होती है कि बीजगुप्त स्वयं यशोधरा को अनुराग की दृष्टि से देखने लगा है। ठीक उस समय जब वह विवाह करने का निर्णय करता है, श्वेतांक उससे यशोधरा के प्रति अपनी दुर्बलता की चर्चा कर बैठता है। बीजगुप्त ठीक ही सोचता है कि यदि वह यशोधरा के साथ विवाह कर लेगा तो श्वेतांक का जीवन नष्ट हो जायगा; अतः वह मृत्युंजय के पास अपने विवाह के स्थान पर श्वेतांक के विवाह का प्रस्ताव लेकर जाता है। श्वेतांक की निर्धनता की ओर संकेत करते हुए जब मृत्युंजय इस प्रस्ताव को स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं, तब बीजगुप्त अपनी सारी सम्पत्ति और सामंत पद दान करने का अपना निश्चय व्यक्त करता है। श्वे-

तांक के प्रति बीजगुप्त का यह व्यवहार उसके हृदय की विशालता का परिचायक है। उसके इस व्यवहार पर मृत्युंजय ने उसे देवता और सम्राट चंद्रगुप्त ने उसे एक महान् आत्मा घोषित किया है। चित्रलेखा हो तो, यशोधरा हो तो, कुमारगिरि हो तो, श्वेतांक हो तो, उसका व्यवहार सभी के प्रति प्रशंसनीय रहा है। संक्षेप में बीजगुप्त प्रेम, उदारता और त्याग की प्रतिमूर्ति है। उसकी गणना हिंदी उपन्यास के सबसे बड़े प्रेमियों में होनी चाहिए।

कुमारगिरि एक ब्रह्मवादी दार्शनिक है। पाटलिपुत्र में उसका बड़ा सम्मान है। बड़े-बड़े सामंतों से लेकर सम्राट चंद्रगुप्त तक उसका आदर करते हैं। योग की शक्तियाँ उसकी बड़ी विकसित हैं। राजप्रासाद में महायज्ञ की समाप्ति पर जब चाणक्य उसे ललकारते हैं, तो वह योग की शक्ति से सभी को आलोक के रूप में ईश्वर के दर्शन कराता है और यदि चित्रलेखा ने उसके द्वारा उत्पन्न भ्रम को नष्ट न कर दिया होता तो वह चाणक्य को हतप्रभ कर चुका था। चित्रलेखा का उसके प्रति आकर्षण उसके जीवन में मोड़ लाने वाली एक बहुत बड़ी घटना है। उसे एक दुर्घटना ही कहना चाहिए। चित्रलेखा के सम्पर्क में आकर वैराग्य को वह नकारात्मक समझने लगता है, साधना पर से उसका विश्वास उठ जाता है और वह वासना का शिकार बनता है। नर्तकी के प्रेम में वह इतना बह जाता है कि उसमें अपने प्रतिद्वन्द्वी बीजगुप्त के प्रति प्रतिहिंसा की भावना जगने लगती है और वह चित्रलेखा को किसी भी प्रकार रोक रखने के लिए झूठ का आश्रय लेता है। चित्रलेखा और कुमारगिरि दोनों का अभिमान दोनों के पतन का कारण बना है। दोनों ही एक दूसरे पर आधिपत्य जमाना चाहते थे। इसमें दोनों को ही अपने-अपने पथ से डिगना पड़ा। लेकिन कुमारगिरि में गिरकर फिर उठने की शक्ति है और चित्रलेखा में पथ से हटकर पथ पर फिर लौट आने की।

श्वेतांक और विशालदेव महाप्रभु रत्नाम्बर के दो शिष्य हैं। श्वेतांक क्षत्रिय है, विशालदेव ब्राह्मण। श्वेतांक की प्रवृत्ति अनुराग की ओर है, विशालदेव की विराग की ओर। पाप के संबंध में प्रश्न करने पर रत्नाम्बर उसका पता लगाने के लिए श्वेतांक को बीजगुप्त के पास रख देते हैं, विशा-

लदेव को कुमारगिरि के पास। दोनों अपने स्वामियों के जीवन, वातावरण और चरित्र का अध्ययन करते हैं और दोनों ही दोनों से प्रभावित होते हैं। अपने गुरु के पास पहुँचकर दोनों ही अपने अभिभावकों की अत्यधिक प्रशंसा करते हैं। अतः जिस कार्य के लिए वे भेजे गए थे, वह पूरा हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता। विशालदेव अपने गुरु की दुर्बलता के कुछ क्षणों का साक्षी है, कुछ को वह अनुमान से पूरा कर लेता है। कुमारगिरि के पतन में वह चित्रलेखा का दोष मानता है। उसके अनुसार यह चित्रलेखा है जिसने आश्रम की शाँति को भंग किया है और इस ओर वह चित्रलेखा का ध्यान भी आकर्षित करता है। श्वेतांक के अनुभव की परिधि विशालदेव से कुछ अधिक विस्तृत है। उसका अपना एक निजी जीवन भी है। चित्रलेखा के सम्पर्क में आकर वह उससे आकर्षित होता है और उसके हाथ से मदिरा-पान करता है। वह सामंत मृत्युंजय की पुत्री यशोधरा के प्रति भी आकर्षित है और बीजगुप्त की सहायता से एक दिन उसे अपनी परिणीता बनाता है। श्वेतांक के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है—निष्कपटता। वह सत्य बोलने का अभ्यासी है। अपने स्वामी बीजगुप्त से वह कुछ भी नहीं छिपाता, इसी से बीजगुप्त का उस पर इतना स्नेह है।

यशोधरा सुषमामयी, शान्त और शालीन है। वह स्नेह की प्रतिमा है। अपना जीवन-साथी चुनने के सम्बन्ध में उसका अपना कोई मत नहीं प्रतीत होता। पिता के निर्णय को ही वह मान्य समझती है। अपने जीवन में वह बीजगुप्त और श्वेतांक दोनों के सम्पर्क में आती है। उसका विवाह सामंत बीजगुप्त से हो जाता, तो वह बहुत प्रसन्न होती; श्वेतांक से हो गया है, तब भी वह प्रसन्न ही प्रतीत होती है। व्यवहार में संयम, स्वभाव में निश्छलता और शिशुओं जैसी सरलता उसके चरित्र की विशेषताएँ हैं।

उपन्यास का विषय ऐसा है कि पाठक इसके कथानक की कल्पना प्रारम्भ में ही सही रूप में कर सकता है। वह इस बात का अनुमान लगा सकता है कि इसमें भोगी संभवतः एक उच्चकोटि का मानव और योगी कुछ भ्रष्ट आचरण वाला सिद्ध होगा। इससे यह निष्कर्ष निकाला जायगा कि बाहर से देखकर ही किसी के सम्बन्ध में निर्णय देना भूल है। हम किसी के

ऊपरी आचरण को देखकर उसे पापी या पुण्यात्मा नहीं कह सकते। इस उपन्यास में ये दोनों तथ्य सही उतरते हैं।

पूछना यह है कि यदि इतनी दूर तक किसी उपन्यास के कथानक की कल्पना पाठक कर सकता है, तो फिर उसकी विशेषता क्या रह गयी? ऐसी दशा में चित्रलेखा की गणना विशिष्ट उपन्यासों में क्यों की जाय?

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों के ढाँचे सीधे और सरल होते हैं। यह बात उनके तीनों प्रसिद्ध उपन्यासों—चित्रलेखा, टेढ़े-मेढ़े रास्ते और भूले बिसरे चित्र—पर लागू होती है। लेकिन ढाँचे की कल्पना करना और बात है तथा उस ढाँचे के भीतर क्या है, इसका अनुमान लगाना बिल्कुल भिन्न बात। चित्रलेखा स्वस्थ क्षणों में लिखी गयी एक प्रेरणापूर्ण कृति है। वासना और दर्शन का ऐसा सामंजस्य हिन्दी के किसी अन्य उपन्यास में कठिनाई से ही मिलेगा। इसके कथानक की शक्ति बहुत कुछ इसके नाटकीय प्रसंगों पर अवलंबित है। थोड़े-थोड़े अवकाश से उत्तेजनापूर्ण, रसपूर्ण, चमत्कृत करने वाले प्रसंग इसमें भरे पड़े हैं। श्वेतांक का ज्वलंत प्रश्न, चित्रलेखा और बीजगुप्त की प्रणय-केलि, चाणक्य और कुमारगिरि की टक्कर, चित्रलेखा और योगी के हृदय का अंतर्द्वन्द्व और सबसे ऊपर बीजगुप्त का त्याग आदि के प्रसंग इतनी ऊँचाई और गहराई से चित्रित किए गये हैं कि पाठक अभिभूत हो कर रह जाता है। चित्रलेखा का महत्व कई दृष्टियों से है—भाषा की दृष्टि से, विचार की दृष्टि से और कथानक की दृष्टि से। यह ध्यान देने की बात है कि अपने सम्पूर्ण कथा-साहित्य में भगवतीचरण वर्मा ऐसी भाषा का प्रयोग फिर कभी नहीं कर पाये।

संन्यासी

श्री इलाचन्द्र जोशी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन पर फ्रायड का बहुत भारी प्रभाव है और यह प्रभाव मनोविश्लेषण के रूप में उनके उपन्यासों में पाया जाता है।

मनुष्य जो भी कर्म करता है, उसका एक कार्य कारण सम्बन्ध होता है। यों अपने कर्मों की व्याख्या करने हम सदैव नहीं बैठते, इसलिए इस ओर अधिक ध्यान भी नहीं देते। लेकिन कार्य-कारण की यह शृंखला इतनी दृढ़ और अटूट है, कि जिसे हम अन्तःप्रेरणा कहते हैं, वहाँ भी वह उपस्थित रहती है—केवल बीच की कुछ कड़ियाँ वहाँ लुप्त रहती हैं। मनोविज्ञान ने सिद्धान्त-रूप से बहुत से तथ्य हमारे सामने रखे हैं और बहुत-सी बातों का विश्लेषण अब हम मनोवैज्ञानिक भाषा में कर सकते हैं। लेखक को तो स्वभावतः मनोविज्ञान की गहरी जानकारी होती ही है। श्रेष्ठ लेखकों की अच्छी रचनाओं का आधार मनोवैज्ञानिक ही होता है।

उपन्यास जीवन का एक बृहत्तर चित्र उपस्थित करता है; अतः यह बहुत स्वाभाविक है कि उसमें जीवन की मार्मिक घटनाओं के साथ धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान और राजनीति आदि का वर्णन पाया जाय; लेकिन यह प्रभाव साधन के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। मनोविज्ञान की भी यही स्थिति समझनी चाहिए। अच्छे साहित्यकार को मानव मन की परख होनी ही चाहिए। उसे अपने प्रत्येक पात्र के मन के ऊपर पड़े प्रभावों और उनके कारणों का ज्ञान होना चाहिए। यह तो हुई एक बात। और मनोविज्ञान पर लिखी पुस्तकों में वर्णित घटनाओं के अनुकरण पर गढ़े गये पात्रों या उसके सिद्धान्तों से जानकारी का परिचय देने के लिए निर्मित प्रसंगों की सृष्टि हुई दूसरी बात। लोगों का कहना यह है कि जोशी जी दूसरी कोटि के साहित्यकारों में से हैं अर्थात् पश्चिम के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रचलित होने पर वे उनसे इतने अधिक प्रभावित हुए कि मानव-मन के सत्य को उस

आधार पर प्रतिष्ठित करने के लिए उन्हें अपने उपन्यासों की रचना करनी पड़ी। इसलिए उनके उपन्यास एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए लिखे गये हैं।

ज्ञान के एक अंग के रूप में मनोविज्ञान का आश्रय सभी कथाकार लेते हैं। इसके लिए आवश्यक नहीं है कि उन्होंने फ्रायड, जुंग और एडलर को पढ़ा ही हो। कोई श्रेष्ठ साहित्यकार इस प्रकार के ज्ञान का उपयोग सचेष्ट भाव से नहीं करता। प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि में से आप किसी भी कथाकार को लीजिए, उनके पात्रों के कर्म की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि काफी पुष्ट होती है। यही दशा भगवतीचरण वर्मा और यशपाल आदि की भी है। एक नए उपन्यासकार डा० लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास 'बया का घोंसला और साँप' को लीजिए। उसमें मन के गहनतम पटलों का सूक्ष्म विश्लेषण है, प्रतीकों की भरमार है और यहाँ-वहाँ स्वप्न बिखरे पड़े हैं। इतने पर भी डा० लाल को हम मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार नहीं कहते। वह उनका लक्ष्य ही नहीं है। पूछा जा सकता है कि जब हिंदी के सभी लेखक मनोविज्ञान का सहारा लेते हैं, तब जोशी जी के नाम के साथ ही मनोविश्लेषणवादी लगाने का क्या कारण है? यह अन्तर मनोविश्लेषण प्रक्रिया को 'प्रमुख' और 'गौण' रूप से अंगीकृत करने का है। जोशी जी मनोविश्लेषण को क्योंकि प्रधान रूप से लेकर चलते हैं; अतः उन्हें वैसा कहा जाता है। सम्भवतः वे स्वयं भी चाहते हैं कि चार आदमी उन्हे वैसा कहें।

संन्यासी एक मनोविश्लेषणवादी उपन्यास है। इससे मैं यह नहीं कहना चाहता कि इसका कथा-भाग दुर्बल है। नहीं, इसकी तो सफलता ही इस बात में निहित है कि इसकी कहानी भी रोचक है, शैली भी मधुर है और मनोवैज्ञानिक आधार तो पुष्ट है ही।

उपन्यास का नायक नन्दकिशोर वाजपेयी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत लेकर एम० ए० कर रहा है। वेद, योरोपीय दर्शन, काव्य और संगीत में उसकी रुचि है। वह गोमती के किनारे बसे एक गाँव का निवासी है। मा की मृत्यु हो चुकी है। पिता उसके डिप्टी कलक्टर थे। बड़े भाई

शिमले के सेक्रेटेरियट में एक उच्च पदाधिकारी हैं और एक हजार के करीब वेतन पाते हैं। एक सौ पचास रुपये मासिक तो वे नन्दकिशोर को ही भेजते हैं।

नन्दकिशोर अपने जीवन में तीन बार आकर्षित होता है। उसके पहिले आकर्षण का लक्ष्य है पं० हृदयराम की लड़की मनोरमा। वह उसके बचपन की साथिन है। उसका विवाह अन्यत्र हो जाता है। विवाह के उपरांत हम उसे राजयक्ष्मा से पीड़ित पाते हैं। हो सकता है यह रोग उसके मानसिक विक्षोभ के कारण हुआ हो। दूसरी है जयंती। एक बार नन्दकिशोर अपने दो मित्रों—विश्वनाथ और उमापति—के साथ प्रो० कृष्णकुमार मिश्र के यहाँ आगरे जाता है और उनकी अनुपस्थिति में उनकी सुन्दरी कन्या जयंती के प्रति आकर्षित हो उठता है। तीसरी है शान्ति—एक स्कूल की अध्यापिका, जिसे लेकर वह भाग जाता है। दुर्भाग्य से कम्यूनिस्ट बलदेव के प्रति सहानुभूति रखने के कारण शान्ति से उसका मनमुटाव होता है और वह उसे छोड़कर कहीं चली जाती है। आगे चलकर जयंती से उसका विवाह हो जाता है; लेकिन वहाँ भी उसकी पत्नी के सम्पर्क में आने वाला एक व्यक्ति है—कैलाशनाथ। उसे लेकर वह जयंती के आचरण पर संदेह करता है। परिणाम यह होता है कि जयंती अपने कपड़ों में आग लगाकर मर जाती है। इस प्रकार तीनों में से किसी के प्रति भी वह अपने प्रेम का निर्वाह ठीक से नहीं कर पाता।

नंदकिशोर की प्रेम-भावना संदेह के कारण विषाक्त हो उठी है।

जयंती को देखते ही उसका हृदय धड़कने लगता है और एक 'अलौकिक रोमांच की बिजली' उसके सारे अंतःकरण को बेध जाती है। सामना होते ही किसी न किसी बहाने वह उसे रोकना चाहता है जिससे वह जी भर कर उसे देख सके। उसे ताजमहल से भी अधिक जयन्ती को देखना अच्छा लगता है! उसका चलना-फिरना, बात करना, खड़ा होना, मुड़कर देखना, उसे सब कलात्मक प्रतीत होता है।

लेकिन विवाह होने पर नंदकिशोर के संदेही स्वभाव ने इसी जयन्ती के जीवन के समस्त रस को सुखा डाला। छोटी से छोटी बात पर संदेह करके

स्वयं दुःखी होना और दूसरों को दुःख देना नंदकिशोर का स्वभाव ही बन गया है। जयंती से वह पूछता है, "अच्छा जयंती, अपनी अन्तरात्मा को साक्षी करके सच बताना कि मेरे साथ विवाह होने से तुम प्रसन्न हो या नहीं?"

ऐसा ही आकर्षण उसे शांति के प्रति प्रारम्भ में होता है। वह उसे न जाने अपने कितने जन्मों की साथिन लगती है! लेकिन यहाँ भी वही संदेह! बलदेव से शांति एकांत में बात करना चाहती है, उसके घर जाने को उत्सुक रहती है, उसकी सहायता करती है, इसे वह प्रेम का लक्षण समझता है। इस संदेह की प्रतिक्रिया यह होती है कि एक दिन क्रोध में खाने की थाली उठाकर वह फेंक देता है। शांति उसका घर छोड़कर चली जाती है।

जिस प्रकार बलदेव को लेकर वह शांति पर संदेह करता है, वैसे ही कैलाश को लेकर जयंती पर। कैलाश जयंती से परिचित है, अच्छे कपड़े पहनकर उससे मिलने आता है, उसके प्रति सहानुभूति रखता है और नंदकिशोर से उसकी कोमल-भावनाओं का ध्यान रखने के लिए आग्रह करता है, यह सब कुछ उसे अच्छा नहीं लगता। उसके मन में ईर्ष्या की आग धधकने लगती है। परिणाम यह होता है कि एक दिन जयंती अपने कपड़ों में आग लगाकर जल मरती है।

नंदकिशोर स्वाभाव से बहुत 'सेंसिटिव' है और छोटी से छोटी बात पर बुरा मान जाता है। आगरे से विदा होने पर वह जयंती के छोटे भाई बिरजू को पच्चीस रुपये देता है। जयंती के संकेत से जब बच्चा रुपये लौटाने आता है, तो नंदकिशोर उन नोटों को फाड़कर फेंक देता है। एक ओर वह जहाँ यह चाहता है कि लोग उसकी छोटी से छोटी भावना का ध्यान रखें, वहाँ दूसरी ओर वह दूसरों की बड़ी से बड़ी भावना का ध्यान रखना नहीं जानता। इसके विपरीत, जो उसे प्यार करते हैं, उनकी भावनाओं को आघात पहुँचाने में उसे सुख की अनुभूति होती है। जयंती से जब वह अपने प्रति शांति के प्रेम की चर्चा करता है, तो उसका उद्देश्य उसके कोमल हृदय को आघात पहुँचाना ही रहा है।

उसकी भाभी उसे हठी स्वभाव का समझती है, भाई ने उसे निकम्मा और आलसी घोषित किया है, जयंती ने उसमें अहंभाव की प्रमुखता बतलायी है। लेकिन उसमें और दोष भी हैं। अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करना

वह नहीं जानता। शांति जब घर छोड़कर चली जाती है, तो वह अपने मन को कैसे ही समझा लेता है। वह थोड़ा भाग्यवादी भी है। जयंती के जल मरने को वह भाग्य का ही खेल समझता है। स्वयं नंदकिशोर ने अपने को अनेक स्थानों पर उद्धत, आत्मघाती और ओछी प्रकृति का घोषित किया है।

वह जो अन्त में सुधरता है उसका मूल कारण यह है कि स्वभाव की सारी दुर्बलताओं के होते हुए भी उसमें आत्म-ग्लानि की भावना विद्यमान है। एक दिन आता है कि वह अपने सारे अपराधों को स्वीकार कर लेता है। दूसरी भावना जो उसे मनुष्यता की ओर ले जाती है, वह है उसका अपत्य-स्नेह। शांति से उत्पन्न वह अपने पुत्र 'लल्लन' की वास्तव में प्यार करता है।

जैसा नंदकिशोर ने स्वयं कहा है प्रेम में वह जलन का ही भागी रहा, शांति उसे नहीं मिली।

संक्षेप में कहना चाहें तो संन्यासी का नायक नंदकिशोर एक न्यूरेटिक चरित्र है। उसमें संदेह, ईर्ष्या, अहं और परपीड़न की भावनाएं प्रबल हैं। इनके द्वारा पड़ी मनोग्रंथियों के कारण वह जिन दो युवतियों के सम्पर्क में आता है, उनका जीवन नष्ट कर देता है। शांति उससे भागी-भागी फिरती है, जयंती तंग आकर आत्म-हत्या कर लेती है। अपनी पत्नी और प्रेमिका को खोकर तथा अपने पुत्र लल्लन से दूर होकर उसका हृदय चूर-चूर हो जाता है। मानसिक शांति के लिए वह देश के अनेक स्थानों में भ्रमण करता है। इससे भी हृदय की पुकार चुप नहीं होती तो वह कर्मरत होता है और मज़दूरों का नेतृत्व करने के कारण जेल में डाल दिया जाता है। कारागार में उसकी उज्ज्वल चेतना जगती है। वहाँ वह अपनी विकृत मनोवृत्तियों पर विजय प्राप्त करता है और एकदम नॉर्मल हो जाता है।

उपन्यास की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के लिए इसकी कुछ घटनाओं को लीजिए।

इस उपन्यास में नंदकिशोर की दो प्रेमिकाएं हैं—जयंती और शांति। पहले वह जयंती के सम्पर्क में आता है, फिर शांति के। आगरे में मिश्र जी के घर पहुँच कर जब उसके मित्र उमापति और विश्वनाथ जयंती की चर्चा

करते हैं तो वह उस बातचीत को कुछ अन्यमनस्क होकर सुनता है, यद्यपि सबसे अधिक आकर्षित भी वही है। यह अन्यमनस्कता प्रेम का ही लक्षण है। उसका भेद खुल न जाय इसका डर उसे बराबर लगा रहता है। उमापति के व्यंग्य करने पर उसका क्रोध उभरता ही है कि पर्दे के पीछे उसे चूड़ियों की खनक सुनाई पड़ती है और वह हँस पड़ता है। वह नहीं चाहता कि उसके कटु स्वभाव का परिचय उसकी प्रेमिका को मिले। प्रारम्भ में वह जैसे जयंती से बात कहने में झिझकता है, वैसे ही शांति से भेंट करने में भी घबराहट का अनुभव करता है। दोनों स्थानों पर उसके मित्र उमापति और विश्वनाथ बहुत काम आये हैं। ये मित्र न होते तो हम कह नहीं सकते कि जयंती और शांति के प्रति वह आत्म-निवेदन कर भी पाता या नहीं।

दूसरी बात संदेह की है। वह अपनी दोनों प्रेमिकाओं को संदेह की दृष्टि से देखता है। जयंती और शांति दोनों पर संदेह करने के पर्याप्त कारण उपस्थित हैं। शांति तो बलदेव के प्रति केवल सहानुभूति ही रखती है; लेकिन जयंती ने कैलाश के प्रति अपने मन की दुर्बलता स्वीकार भी की है। नंदकिशोर अपने दृष्टिकोण से इन चारों के व्यवहार और मन का विश्लेषण करता है और जैसे-जैसे विश्लेषण करता है, वैसे-वैसे उसके मन का संदेह और पुष्ट होता चला जाता है।

लेखक ने शांति के घर छोड़ने और जयंती के चरित्र पर संदेह करने के उपरांत दोनों स्थानों पर नंदकिशोर को ज्वर से ग्रस्त दिखलाया है। मानसिक क्लेश को परिणति रोग में प्रायः हो जाती है। शांति से क्षुब्ध होने पर वह कार्निवाल में जुआ खेलने चला जाता है और वहाँ अपना सब कुछ हार आता है। निराशा की दशा में यह आचरण एकदम स्वाभाविक प्रतीत होता है। शांति के घर छोड़ने पर मन की भावनाओं की तुलना उसने समुद्र के जल-जन्तुओं से की है। मानसिक संतुलन खोने पर उसे अपनी कल्पना-पटी पर भूत-प्रेतों की छायाएँ-सी दिखाई देती हैं। एक दूसरे स्थान पर जयंती और कैलाश से क्लेश पाने पर वह जीवन की व्यर्थता पर विचार करता है और उसे लगता है जैसे उसका हृदय धीरे-धीरे डूब रहा

है...कि उसकी मृत्यु होने वाली है। यह एक विचित्र कोटि की अनुभूति है और विशेष परिस्थितियों में कुछ व्यक्तियों को होती है।

एक टेकनीक स्वप्नों की भी है। जुए में सब कुछ हारकर नंदकिशोर एक स्वप्न देखता है। देखता है कि जुए में उसकी अंधाधुंध जीत हुई है और उस सारे रुपये को उसने बलदेव को दे दिया है। बलदेव और शांति एक दूसरे के पास बैठे हँस रहे हैं। शांति नए वस्त्र और सोने का हार पहनने की इच्छा प्रकट करती है। इस स्वप्न में नंदकिशोर ने सब बातें उल्टी देखी हैं; लेकिन उनसे इस संदेह की पुष्टि होती है कि शांति बलदेव के प्रति आकृष्ट है। साथ ही जुए में जीत द्वारा उसने अपने अहं की पुष्टि भी कर ली है।

एक दूसरा स्वप्न जयंती से संबंधित है। एक दिन स्वप्न में वह अपनी भाभी को देखता है जो उसे यह सूचना देती है कि जयंती विधवा हो गई—यद्यपि वास्तविक जीवन में जयंती का अभी विवाह भी नहीं हुआ है। बात यह है कि नंदकिशोर जयंती से अप्रसन्न है और उसके दर्प को चूर्ण करना चाहता है। वही भावना स्वप्न में यह रूप धारण करके आई है।

इन समस्त घटनाओं में जिनका मनोविज्ञान से गहरा संबंध है, ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका उपयोग कोई दूसरा उपन्यासकार नहीं कर सकता था स्वप्नों के संबंध में ही मुझे थोड़ा संदेह है—क्योंकि स्वप्न मनोविज्ञान से विशेष रूप से संबंधित बताए जाते हैं—लेकिन स्वप्नों का प्रयोग भी हिंदी उपन्यासों में किया ही गया है।

तब इलाचंद्र जोशी के साहित्य में ऐसी विशेष क्या बात है जिससे उन्हें मनोविश्लेषणवादी कहा जाता है?

जोशी जी ने न केवल पश्चिम के मनोविश्लेषणवादियों का अध्ययन किया है, वरन् वे उनसे प्रभावित भी हैं। यह प्रभाव उपन्यासों के कथानकों को प्रस्तुत करने के ढंग से स्पष्ट होता है और कहीं भी देखा जा सकता है। संन्यासी में मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है जैसे अंतर्मन, बाह्यमन, अंतरात्मा, अंतर्वाणी, अंतश्चेतना आदि। अनेक स्थलों पर इसमें मनोवैज्ञानिक तथ्यों का सूत्रों के रूप में उल्लेख हुआ

है। एक स्थान पर शांति नंदकिशोर से मनोविज्ञान की महत्ता और सीमा के संबंध में स्पष्ट कहती है—

"मैं जानती हूँ कि तुम मनोविज्ञान के बड़े पंडित हो और तुम्हारा विभिन्न विषयों का अध्ययन भी खूब बढ़ा-चढ़ा है। इस अध्ययन के बल पर तुम जिसको चाहो पागल या मूर्ख सिद्ध कर सकते हो; यह तुम्हारे समान मनोवैज्ञानिकों के बाएँ हाथ का खेल है; पर एक बात मैं कहे देती हूँ। तुम जैसे पंडितों ने मनुष्य की मनोवृत्तियों को खंड-खंड करके विभाजित करना ही सीखा है, इस बात पर ध्यान देना नहीं सीखा कि विभाजन से नहीं, बल्कि विभिन्न विरोधी वृत्तियों के संयोजन से ही मानव-स्वभाव की महत्ता प्रतिष्ठित हुई है। अगर मनोवृतियों के विश्लेषण से ही मनुष्य का यथार्थ स्वभाव जाना जा सकता है, तो इस कसौटी से विचार करने पर तुम भी पागल सिद्ध किए जा सकते हो और मैं तो सबसे अधिक पागल मानी जाऊँगी।"

हमारा विश्वास है कि यह कथानक यदि किसी अन्य उपन्यासकार के हाथ में पड़ता तो वह उसे दूसरे ही रूप में प्रस्तुत करता। पात्रों के स्वभाव में थोड़ी काट-छाँट करता, घटनाओं को थोड़े भिन्न प्रकार के मोड़ देता, अंत संभवतः और प्रकार का होता। जोशी जी के उपन्यास जिनमें यह संन्यासी भी सम्मिलित है, अपराधी और रुग्ण मनोवृत्ति के पात्रों के आधार पर ही पनप सकते हैं। समाज अपराधियों के समूह का नाम नहीं है। उसमें ऐसे व्यक्ति अपवाद-स्वरूप ही होते हैं। नंदकिशोर तो संदेह, अहं और प्रतिहिंसा की जैसे प्रतिमूर्ति है। सेंसिटिव इतना कि जरा-सी बात पर उसे आघात लगता है और वह प्रतिशोध के लिए तत्पर हो जाता है। उसकी दोनों प्रेमिकाओं ने उसके स्वभाव के कारण बहुत कष्ट उठाया है। शांति उसे अत्यधिक प्यार करती है और जयंती उसे वैसा ही प्यार देने की तैयारी में है; लेकिन वह दोनों को नहीं समझ पाता। कैलाश पर संदेह करने का तो कुछ कारण भी हो सकता है; लेकिन बलदेव पर तो वह अकारण संदेह करता है। सच पूछिए तो उसे मनुष्य के स्वभाव की पहचान ही नहीं है। संदेह में वह जैसे अंधा हो जाता है। इस प्रकार वह एक 'ऐक्सट्रीम टाइप'

सा लगता है। उसका समर्थन केवल इस आधार पर किया जा सकता है कि उसका स्वभाव ही ऐसा है। सुधार भी उसमें उस समय होता है जब सब कुछ नष्ट हो चुका है। स्पष्टतः इस सुधार से नंदकिशोर को छोड़कर और किसी का कोई लाभ नहीं होता। उसने दो सुंदर जीवन 'डैमेज' कर दिए। उसके इसी अवगुण के कारण पाठक को कहीं भी उसके प्रति कोई सहानुभूति उत्पन्न नहीं होती।

सारे उपन्यास में एक प्रकार की घुटन की प्रतीति ही पाठक को होती है। एक रुग्ण व्यक्ति की जीवन-गाथा पढ़ते-पढ़ते मन पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे बहुत स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। उपन्यास भर में एक ही पात्र ऐसा है जिसे कुछ प्रगतिशील कहा जा सकता है—वह है कम्यूनिस्ट बलदेव। संन्यासी में विचार का तत्त्व उसी को लेकर है। समाज, शिक्षा, धर्म और सभ्यता आदि को लेकर वही नंदकिशोर से थोड़ा वाद-विवाद करता है। उसके सिद्धांतों का सार इस प्रकार है—

"मैं एक ऐसे मतवाद का प्रचार करना चाहता हूँ, जो कोरा सिद्धान्तवाद या आदर्शवाद न रहकर जीवन की वास्तविकता से सम्बन्ध रखता है, और जो 'रेडिकेलिज्म' का पोषक होते हुए भी इतनी सदियों के अनुभव से विकास-प्राप्त 'कल्चर' को न ठुकराकर उसे युग की आवश्यकता के अनुसार नये रूप से नये प्रकाश में जनता के आगे रखने में समर्थ हो।

आप शायद यह कहना चाहते हैं कि 'रेडिकेलिज्म' से उस 'कल्चर' का कोई मेल नहीं हो सकता जो पूँजीवादी सभ्यता का सार है, जिसके निर्माण में जन साधारण की मनोवृत्तियों ने कुछ भी भाग नहीं लिया है। 'रेडिकेलिज्म' का अर्थ दूसरे रूप में ग्रहण करता हूँ। मैं उसका यह अर्थ नहीं लेना चाहता कि जो विचार और आचार सदियों की पूंजीवादी सभ्यता से पुष्ट होकर आज संसार में वर्तमान हैं, उन्हें जड़ से उखाड़कर फेंक दिया जाय। मैं 'रेडिकेलिज्म' का अर्थ समझता हूँ 'ट्रेन्सवेल्यूएशन आफ़ आल वेल्यूज़'—सदियों के अनुशीलन से 'कल्चर' के जो तत्व संसार में प्रतिष्ठित हो पाये हैं, उन सबको परिवर्तित और परिसंस्कृत रूप में जनसाधारण के आगे रखना ताकि वर्तमान युग से साधारण जनता की मनोवृत्तियों का जो नवीन विकास

शीघ्र गति से भविष्य की ओर अग्रसर होता जाता है, उसके साथ उन तत्त्वों का एक ऐसा रासायनिक सम्मिश्रण हो जाय जो प्राचीन संस्कृति-तत्त्वों के बीजों की रक्षा पूरी तरह से करता हुआ नवीनता के साथ उनका चिर सम्बन्ध स्थापित कर दे ।"

लेकिन बलदेव उपन्यास का गौण पात्र है और प्रगतिवाद के प्रति जोशी जी की अधिक सहानुभूति नहीं प्रतीत होती, इसी से इस पात्र के चरित्र का विकास वे अधिक नहीं कर पाये । संभवतः उपन्यास के वर्तमान ढाँचे में यह संभव भी नहीं था ।

शांति का जीवन अनुरक्ति और विरक्ति दोनों के छोर छू आया है । अनुराग की दशा में जैसे उसने अपना सब कुछ नंदकिशोर पर न्योछावर कर दिया है, वैसे ही जब वह उससे उदासीन हुई है तब फिर उसे किसी भी प्रकार का प्रलोभन नहीं लौटा पाया है । शांति की अनुरक्ति का तो नहीं; लेकिन उसकी विरक्ति का प्रभाव नंदकिशोर पर पड़ता है । जयंती कैलाश के प्रति असने हृदय की दुर्बलता स्वीकार कर लेती है, इसे उसके स्वभाव का बड़प्पन ही समझना चाहिए । वह आशा करती थी कि जैसे उसने शांति और नंदकिशोर के प्रणय-संबंध का बुरा नहीं माना, उसी प्रकार उसका पति भी कैलाश के प्रति उसके आकर्षण को ईर्ष्या की दृष्टि से नहीं देखेगा । लेकिन खेद की बात है कि नंदकिशोर इस उदार स्तर पर इस संबंध को रखकर नहीं देख पाया ।

उपन्यास की भाषा संस्कृत-गर्भित हिंदी है । यों उसमें फ़ारसी और अँगरेजी के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है; पर संस्कृत के तत्सम् शब्दों की तो भरमार है । स्थान-स्थान पर आपको घूर्णन, उच्छल, क्लेदाक्त, अगत्या प्ररोचना, महीयान, अविजानित, विस्फूर्जन और प्रायान्धकार जैसे शब्दों का प्रयोग मिलेगा । कहीं-कहीं जेलोन्मुखी जैसे शब्दों का निर्माण भी जोशी जी ने कर लिया है । जहाँ हठ से काम चल सकता था, वहाँ हठकारिता का प्रयोग है ! एक स्थान पर 'अपनी सुविधानुसार' लिखा है । मैं समझता हूँ 'अपने सुविधानुसार' होना चाहिए । इस प्रकार इस कृति की भाषा साहित्यिक

तो है, पर स्वाभाविक नहीं। वह किसी संस्कृत-प्रेमी हिंदी-लेखक की भाषा-सी जान पड़ती है।

जोशी जी को कवि-हृदय प्राप्त है; अतः वर्णन कहीं-कहीं काव्यात्मक और मधुर हो उठे हैं। इस उपन्यास में काशी की गंगा, आगरे की यमुना, शिमले की प्रकृति और पुरी के समुद्र के वर्णन बड़े हृदयग्राही बन पड़े हैं! भावना के माधुर्य और कल्पना के मिश्रण के कारण ऐसे वर्णन अलग चमकते है। भाषा की दृष्टि से उपन्यास में अभिव्यक्ति का स्तर काफ़ी ऊँचा है।

जोशी जी मनुष्य के स्वभाव के विकृत पक्ष को विशेष रूप से उभारकर रखते हैं, प्रेमचंद जी सुंदर पक्ष को; इसी से जोशी जी यथार्थवादी कहलाते हैं, प्रेमचंद जी आदर्शवादी। अंतिम लक्ष्य दोनों ही का व्यक्ति-कल्याण है। लेकिन जोशी जी के स्वस्थ व्यक्ति को देखने का अवसर हमें उनके उपन्यासों में नहीं मिलता। पाठक उनके नायकों को मानसिक दृष्टि से रुग्ण अवस्था में ही देखता है; अतः उसका मन उस सौंदर्य के लिए तरसता रह जाता है जो कथा-साहित्य की शक्ति है—मूल संबल है। प्रेमचंद जी द्वारा चित्रित किए गए मानव की अपराजेय शक्ति का परिचय बीच-बीच में बराबर मिलता रहता है। दुःख के भीतर से मनुष्य की गरिमा को निरंतर निखारते रहने के कारण ही प्रेमचंद जी चिरस्मरणीय हैं। यह सत्य है कि मनुष्य के भीतर स्वर्ग के समान नरक भी रहता है और उस नरक का परिचय हमें होना चाहिए; लेकिन अधिक देर तक नरक में घुमाना साहित्य का कोई बहुत ऊँचा लक्ष्य नही माना जा सकता।

जोशी जी के अन्य उपन्यासों से संन्यासी इस दृष्टि से श्रेष्ठ है कि उसमें मनोविज्ञान का प्रभाव अति की सीमा तक नहीं पहुँचा है। यह उपन्यास प्रायः कला के अनुशासन में ही रहा है। मनोविश्लेषण के क्षेत्र में प्रयोग की दृष्टि से जोशी जी के उपन्यासों का हिंदी में एक ऐतिहासिक महत्त्व है। संन्यासी उस महत्त्व की पहली बड़ी कड़ी है, प्रथम चरण है, पहला सोपान है।

अजातशत्रु

मौर्य-काल से पूर्व की ऐतिहासिक घटनाओं का सङ्कलन बहुत कुछ जैन और बौद्ध-साहित्य तथा पुराणों के आधार पर हुआ है। ई० पू० छठी शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तर भारत में १६ स्वतन्त्र राज्य अथवा महाजनपद थे। अजातशत्रु नाटक में उनमें से तीन का वर्णन आया है—

(१) मगध उस काल का उन्नतिशील राज्य था। इसकी राजधानी राजगृह थी।

(२) कौशाम्बी—यह 'वत्स' राज्य के नाम से प्रसिद्ध था। इसकी राजधानी आधुनिक इलाहाबाद के निकट 'कौशाम्बी' थी।

(३) कोशल—इसका आधिपत्य लखनऊ और फैज़ाबाद के जिलों की भूमि पर समझिए। यहाँ का राजा 'प्रसेनजित' था। उसके पुत्र विरुद्धक को इतिहास दुर्बल और अत्याचारी बतलाता है। इसकी राजधानी 'श्रावस्ती' थी।

मल्लिका के मुख से 'मल्ल' राज्य का वर्णन भी हम सुनते हैं। इसे आधुनिक गोरखपुर ज़िले की सीमा के अन्तर्गत लेना चाहिए।

महाभारत-काल में मगध पर जरासन्ध का कुल राज्य करता था। ईसा से छठी शताब्दी पूर्व में वहाँ 'शिशुनाग' वंश का आधिपत्य हुआ। महावीर और गौतम का समकालीन बिम्बसार (५८२ ई० पू० से ५५४ ई० पू०) जो इस कुल का पाँचवाँ राजा था, प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति है। उसने अंग को विजय किया। उसकी दो रानियाँ थीं—एक कोशल राज्य की कुमारी जिसे दहेज़ में काशी का राज्य मिला और दूसरी वैशाली (वृजि) राज्य की लिच्छवी वंश की राजकुमारी। बौद्ध-ग्रन्थों के आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि उसके पुत्र अजातशत्रु (५५४-५२७ ई० पू०) ने उसे बन्दी बनाया और भूखा रखकर मार डाला।

अजातशत्रु शिशुनाग वंश में सबसे प्रभावशाली राजा सिद्ध हुआ। उसकी मा लिच्छवी वंश की और पत्नी कोशल वंश की थी। कोशल के राजा प्रसेन ने अजात के आचरण पर अप्रसन्न होकर काशी से उसे कर मिलना बन्द करा दिया। इस पर दोनों राज्यों में युद्ध हुआ। अजात अन्त में विजयी हुआ। यह अजातशत्रु ही था, जिसने गंगा और सोन के संगम पर एक गढ़ बनवाया जो आगे चलकर पाटलिपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अजातशत्रु नाटक को समझने के लिए इतने ऐतिहासिक तथ्य पर्याप्त हैं।

नाटक में 'प्रसाद' ने तीन राज्यों—मगध, कोशल, कौशाम्बी की राजनीतिक घटनाओं का गठबन्धन बड़े कौशल से किया है। कौशाम्बी का राजा उदयन मगध-सम्राट बिम्बसार का जामाता है, बिम्बसार कोशल के राजा प्रसेन का बहनोई है। उसका पुत्र अजात इसी प्रसेन का जामाता बनता है।

बिम्बसार, अजातशत्रु, जीवक, प्रसेनजित, विरुद्धक, गौतम, देवदत्त और आनन्द का नाम तो स्पष्टतः प्रत्येक इतिहास-ग्रन्थ में मिलता है। अन्य नाम 'प्रसाद' ने बौद्ध-जातकों, कथा-सरित्सागर, स्वप्नवासवदत्ता और कई संस्कृत के साहित्य-ग्रन्थों से लिए हैं। प्रसेनजित की पत्नी दासी-पुत्री शक्तिमती का नाम कल्पित है। उदयन की रानी मागन्धी को 'अम्बा-पाली' मानना असंगत अथवा साहित्यिक-स्वच्छन्दता है, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया है। समुद्रदत्त, सुदत्त, वसन्तक, लुब्धक और रानियों की सेविकाओं के नाम तो कल्पित रहेंगे ही। भूमिका में एक छोटी-सी भूल 'प्रसाद' जी से यह हो गई है कि वासवी को प्रसेन की भगिनी मानते हुए भी वे एक स्थान पर उसे प्रसेन की पुत्री लिख गये हैं। देखिये—

"अजातशत्रु जब अपने पिता के जीवन में ही राज्याधिकार का भोग कर रहा था और जब उसकी विमाता कोशलकुमारी वासवी अजात के द्वारा एक प्रकार उपेक्षिता सी हो रही थी, उस समय उसके पिता (कोशल नरेश) प्रसेनजित

ने उद्योग किया कि मेरे दिए हुये काशी-प्रान्त का आय-कर वासवी को ही मिले ।"

अजातशत्रु ऐतिहासिक नाटक होते हुए भी एक 'विचार-प्रधान' नाटक है। यह सत्य है कि यह बाह्य-संघर्ष से परिपूर्ण है; पर बाह्य-संघर्ष चरित्रों के आन्तरिक विचारों का परिणाम मात्र है। इसमें विचार है कारण, आचरण है कार्य। यह नाटक एक धार्मिक आन्दोलन का सजीव चित्र है। बाहर से जैसे यह पिता-पुत्र, पत्नी-पति, सौत-सौत, भिक्षु-भिक्षु का संघर्ष है; भीतर से उसी प्रकार करुणा-क्रूरता, महत्वाकांक्षा-अधिकार, डाह-अनुकम्पा और पाखण्ड-पुण्य का युद्ध है। इस आधार पर हम पात्रों को दो स्पष्ट श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—सत् और असत्। एक ओर वासवी, बिम्बसार, मल्लिका, गौतम और पद्मावती हैं; दूसरी ओर छलना, अजात, प्रसेन, विरुद्धक, देवदत्त, समुद्रदत्त और मागन्धी हैं। 'अजातशत्रु' सत् और असत् का संघर्ष है। असत् पहले प्रबल होता, सत् को आच्छादित करता दिखाई देता है; फिर थककर सत् के चरणों की शरण में आता है। सत् असत् को अपने वक्ष से चिपटाता है और उसके शीश पर अभय का कर रखता है। संघर्ष रुक जाता है, मंगल छा जाता है।

नाटक के आरम्भ में ही दण्ड देने को उद्यत अजात के हाथ को उसकी भगिनी पद्मा थामती है। वहीं ऐसा प्रतीत होता है कि मानो पौरुष की अति को नारी की कोमलता रोकती है, मानो क्रूरता का करुणा वर्जन करती है, मानो हिंसा को अहिंसा टोकती है। समस्त नाटक इसी वर्जन से भरा हुआ है, इसी स्नेह से परिप्लावित है। नाटक के असत् पात्र अपराध करने पर तुले हुए हैं और धीरे-धीरे सुधार की ओर जा रहे हैं; प्रारम्भ में अपराध करते हैं और अन्त में पश्चात्ताप करते हुए क्षमा माँग लेते हैं। दुष्टता का अन्त किसी न किसी आघात से होता है। छलना पति और सपत्नी के प्रति अपराध करती है; पर जब उसका पुत्र अजात बन्दी होता है तब उसके हृदय में मातृ-प्रेम उमड़ता है। यह मातृ-प्रेम उसके हृदय की क्रूरता को शान्त करता है और डाह तथा अधिकार-भावना की कीच को धो देता है। प्रसेनजित और विरुद्धक मल्लिका का अनिष्ट करते हैं—प्रसेन इसलिए कि

मल्लिका के पति सेनापति बन्धुल से वह शङ्कित रहता है और विरुद्धक इसलिए कि मल्लिका का विवाह उससे न होकर बन्धुल से क्यों हुआ। यही मल्लिका प्रतिशोध की भावना को दूर फेंककर घायल प्रसेन और विरुद्धक की सेवा करती हुई उन्हें जीवन-दान देती है। उसका देवत्व इनकी क्रूरता को भस्म कर डालता है। मागन्धी का पतन हुआ है रूप और यौवन के गर्व के कारण तथा वासना की अतृप्ति से। अपने रूप की शक्ति से वह गौतम जैसे वीतराग को भी परास्त करना चाहती थी। पतिरूप में गौतम को प्राप्त करने की उसकी बड़ी आकांक्षा थी। गौतम ने उसे स्वीकार नहीं किया, पर जब वह जगत से तिरस्कृत होती है, मार्ग चलते बालक उस पर ढेले फेंकते हैं, तब गौतम की अगाध करुणा उसके पाप को अपने क्रोड़ में लेकर पुण्य कर देती है। भगवान् बुद्ध से अकारण द्वेष करने वाले पाखण्डी देवदत्त और समुद्रदत्त अपने पाप की ज्वाला में ही मर मिटते हैं। अजात कुछ अधिक दुष्ट है; अतः उसके हृदय पर कई आघात लगते हैं, तब उसकी मति ठिकाने आती है। मल्लिका की कुटी में अजात प्रसेन की हत्या करने जाता है। वहाँ मल्लिका की शीतल वाणी के छींटे उसकी हिंसा-वृत्ति के उफान को नीचे बिठा देते हैं। फिर वाजिरा के प्रति आकर्षण उसके हृदय की कठोर भूमि को रससिक्त करता है। वासवी का मातृत्व उसे और कोमल बनाता है और पुत्रोत्पत्ति पर उसके अन्तर का वात्सल्य तो करुणा से विगलित करके उसे पूर्ण मनुष्यता प्रदान करता है। क्रूर पात्रों के हृदय-परिवर्तन पर पद्मावती की यह धारणा अन्त में सत्य प्रमाणित होती है—

मनुष्य होना राजा होने से अच्छा है।

बिम्बसार दार्शनिक वृत्ति का एक सात्विक गुण सम्पन्न प्राणी है। उसने जहाँ कहीं मुख खोला है, वहीं अपनी गम्भीर विचारशीलता का परिचय दिया है। कुछ उसके स्वभाव, कुछ भगवान् अमिताभ के प्रभाव और कुछ जीवन के कटु अनुभवों ने उसे वस्तुओं के सत्य ज्ञान का परिचय कराया है। जीवन की क्षणभंगुरता, मनुष्य की महत्वाकांक्षा, नियति के विषम व्यवहार, जगत के उत्थान-पतन, प्रकृति की उच्छृङ्खलता, मनोभावों की अस्थिरता एवं

मनुष्य की प्रवृत्तियों पर वह बराबर विचार करता पाया जाता है। उसकी विचारधारा किसी अनुभवी विचारक के परिणामों से कम सारगर्भित नहीं। उसके विचार से मानव ने अपने चतुर्दिक जटिलताओं का जाल ऐसा फैला रखा है कि उस उलझन में ग्रस्त वह कभी वास्तविक शान्ति को प्राप्त न कर सकेगा। सृष्टि में आनन्द के व्याघात को बिम्बसार किस व्यापक दृष्टि से देखता हुआ स्पष्ट करता है—

"सच तो यह है कि विश्व भर में स्थान-स्थान पर वात्याचक्र है; जल में उसे भँवर कहते हैं, स्थल पर उसे ववंडर कहते हैं, राज्य में विप्लव, समाज में उच्छृङ्खलता और धर्म में पाप कहते है।"

दार्शनिक होते हुए भी वह शासन करना जानता था, शासन करना चाहता था। गौतम जब अजात को राज्य-भार सौंपने का परामर्श देते हैं तब बिम्बसार कुछ क्षण के लिए आनाकानी करता है। इस आनाकानी को बुद्ध ने यद्यपि 'राज्याधिकार की आकांक्षा' कहा है; पर बिम्बसार के सामने अजात की अयोग्यता भी थी। वासवी से उसने स्वीकार किया है, "इस कुणीक के व्यवहार से अपने अधिकार का ध्यान हो जाता है। तुम्हें विश्वास हो या न हो; किन्तु कभी-कभी याचकों का लौट जाना मेरी वेदना का कारण होता है।" उसे खोटे-खरे की पहचान थी, इसी से छलना से वह विरक्त रहता था। पर वासवी को सम्बोधन भी सम्मान-पूर्वक करता है। बिम्बसार के मत में 'सम्राट्' से भी मनुष्य प्रबल है और न्यायाधीश से भी पिता। जीवक के 'सम्राट्' कहने पर वह क्षुब्ध होकर कहता है, "चुप! यदि मेरा नाम न जानते हो तो मनुष्य कहकर पुकारो। यह भयानक सम्बोधन मुझे न चाहिए।" जिस पुत्र ने उसके साथ शत्रु का सा दुर्व्यवहार किया, उसे वह अन्त में क्षमा कर देता है। बिम्बसार शान्ति-प्रिय व्यक्ति था। उसकी इस अभिलाषा को चाहे हम कोरी भावुकता कहें पर इससे लोक के प्रति उसकी मंगल-कामना और सच्ची शान्ति का गला घोंटने वाले सांसारिक वैभव की निस्सारता टपकती है—

"यदि मैं सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट

में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती, पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले में चू पड़ता, तो इतना चीत्कार इस विश्व में न मचता।"

अजातशत्रु एक क्रूर राजकुमार था और एक उच्छृंखल शासक। लुब्धक के मृगछौना ने लाने पर वह उन्हें कशाघात करने को तैयार होता है। राज्य-लोलुपता ने उसे ऐसा अन्धा किया कि औरंगजेब की भाँति उसने पिता को उसके जीवनकाल में ही सिंहासन से च्युत कर दिया और उस पर ऐसा नियन्त्रण रखा जैसा एक बन्दी पर रखा जाता है। विमाता वासवी पर भी वह अकारण संदेह करता है। प्रसेनजित की आज्ञा से काशी की प्रजा जब अजात को कर नहीं देती, तब वह कहता है, "ओह! अब समझ में आया। यह काशी की प्रजा का कण्ठ नहीं, इसमें हमारी विमाता का व्यंग्य-स्वर है।" तुरन्त ही वह परिषद् का आयोजन करता है और वासवी पर नियन्त्रण रखने की आज्ञा देता है। एक ओर छलना के संकेत पर वह चलता है, दूसरी ओर देवदत्त और समुद्रदत्त जैसे यश-लोलुप चाटुकार व्यक्ति उसे कुमति प्रदान करते रहते हैं। उससे प्रजा असन्तुष्ट है और पिता भी। युद्ध-भूमि में भी उसने रण-कौशल का परिचय नहीं दिया। कोशल राज्य पर आक्रमण करने जाता है और बन्दी हो जाता है। हाँ, कोशल की राजकुमारी वाजिरा के अनुपम लावण्य की झलक से उसका हृदय कोमल होता है—

अजात—सुना था कि प्रेम द्रोह को पराजित करता है। आज विश्वास भी हो गया। अब यदि कोशल-नरेश मुझे बन्दीगृह से छोड़ दें तब भी....

वाजिरा—तब भी क्या?

अजात—मैं कैसे जा सकूँगा?

पुत्रोत्पत्ति पर तो वह पिघल पड़ता है और सद्बुद्धि का उदय होते ही वह पिता की शरण जाकर चरण पकड़कर क्षमा माँगता है। बिम्बसार उस समय कैसी मीठी चुटकी लेता है—

"क्यों अजात! पुत्र होने पर पिता के स्नेह का गौरव तुम्हें विदित हुआ। कैसी उलटी बात हुई।"

मगध और कोशल की राजनीति 'प्रसाद' जी ने एक-सी रखी है। बिम्बसार, अजात और छलना की तुलना हम प्रसेनजित्, विरुद्धक और शक्तिमती से कर सकते हैं। जैसे अजात अपने पिता को पद-च्युत करके सिंहासन का अधिकारी हुआ; उसी प्रकार विरुद्धक अपने पिता प्रसेन को सिंहासन से उतारना चाहता है; जिस प्रकार छलना अपने पुत्र को कुमार्ग पर चलाती है, उसी प्रकार शक्तिमती भी उसे साहसिक बनाने में गौरव का अनुभव करती है और अपनी कार्य-सिद्धि के लिए कभी मल्लिका को भड़काती है, कभी दीर्घकारायण को। छलना ने जैसे पति के साथ विश्वासघात किया है, वैसे ही शक्तिमती अपने स्वामी के साथ विश्वासघात करती है। विरुद्धक तो अजात से अभिसंधि करके देशद्रोही होने का परिचय भी देता है। अजात और विरुद्धक के कार्यों में इतना अन्तर है कि अजात सफल हो गया है, विरुद्धक असफल रहा। अजात और विरुद्धक के आचरण में इतना अन्तर है कि विरुद्धक ने अपनी उद्दण्डता का अधिक परिचय दिया है। हृदय से दोनों महत्वाकांक्षी हैं; पर अजात विनम्रता से काम लेता है, विरुद्धक अशिष्टता से। गौतम के यह कहने पर कि क्या वह राज्य का कार्य मंत्रिपरिषद् की सहायता से चला सकेगा, अजात शीघ्रता से पर संयत शब्दों में कहता है, "क्यों नहीं, पिता जी यदि आज्ञा दें।" विरुद्धक एकदम स्पष्ट शब्दों में कहता है, "पुत्र यदि पिता से अपना अधिकार माँगे, तो उसमें दोष ही क्या है?" बिम्बसार और प्रसेनजित में यह अन्तर है कि बिम्बसार जहाँ झुक गया है, वहाँ प्रसेन नहीं झुका? बिम्बसार अनिच्छा होते हुए भी राजकार्य अजात को सौंप देता है; पर प्रसेन विरुद्धक को राज्य से निकाल बाहर करता है। प्रसेन दार्शनिक बिम्बसार से अधिक सतेज और दृढ़ है। अन्त में जैसे बिम्बसार, छलना और अजात को क्षमा प्रदान करता है, उसी प्रकार प्रसेनजित भी विरुद्धक और शक्तिमती को क्षमा कर देता है। प्रसेन का वात्सल्य वैसे बिम्बसार के वात्सल्य से किसी प्रकार कम नहीं है। शासन-व्यवस्था के लिए उसने पुत्र का बहिष्कार

किया था; पर जब विरुद्धक उसके चरण पकड़ता है, तब प्रसेन के अंतर का अवरुद्ध पिता विकल होकर कहता है—

"धर्माधिकारी ! पिता का हृदय इतना सदय होता है कि नियम उसे क्रूर नहीं बना सकता। मेरा पुत्र मुझसे क्षमा भिक्षा चाहता है। धर्मशास्त्र के उस पत्र को उलट दो। मैं एक बार अवश्य क्षमा कर दूँगा। उसे न करने से मैं पिता नहीं रह सकता, मैं जीवित नहीं रह सकता।"

मल्लिका के रूप में कवि ने एक आदर्श चरित्र की सृष्टि की है। वह एक वीर की सच्ची सहधर्मिणी है। उसका पति युद्धक्षेत्र में गया है— इस बात का उसे बड़ा गर्व है और आह्लाद भी। यह पतिपरायणा नारी-कर्तव्य की उपासिका है। महामाया शैलेन्द्र के द्वारा उसके पति की हत्या की आशंका उसके सामने रखती है; पर वह विचलित नहीं होती, राजभक्त रहना ही श्रेष्ठ समझती है। कर्तव्यपालन की परख तो कठोर स्थिति में ही अच्छी होती है। दुर्भाग्य से उसका सौभाग्य-सिन्दूर पुछ जाता है और जिस दिन वह यह संदेश सुनती है, उसी दिन धर्माचार्य सारिपुत्र और आनन्द को उसे भिक्षा करानी है। पर वह अपने आतिथ्य-धर्म का प्रतिपालन करती है। आनन्द ने उसके इस आचरण पर चकित होकर उसे 'मूर्मिमती धर्मपरायणता' कहा है ! ऐसे घोर शोक में ऐसे अगाध धैर्य का परिचय बड़ी सबल आत्मा का काम है। जिस प्रसेन ने उसके पति की हत्या करवाई है, उसे क्षमा ही नहीं करती, संकट में उसकी सेवा भी करती है; जिस विरुद्धक ने उसके स्वामी की हत्या की, उसकी शुश्रूषा करके उसे लज्जित ही नहीं करती, पूर्व-प्रणय की स्मृति जगने पर जब वह उस सेवा में प्रेम की गंध सूँघने लगता है, तब मल्लिका उसकी बुद्धि को ठिकाने लाती है—"विरुद्धक ! तुम उसका मनमाना अर्थ लगाने का भ्रम मत करो। मल्लिका उस मिट्टी की नहीं है, जिसकी तुम समझते हो।" प्रसेन से इसी विरुद्धक और उसकी माता शक्तिमती को क्षमा प्रदान करवाती है। मल्लिका बौद्ध-धर्म का व्यवहार-पक्ष है। सङ्कट में धैर्य धारण करना और शत्रु के प्रति प्रतिकार-भावना तो दूर, आवश्यकता पड़ने पर उसकी सेवा करके विश्व-करुणा और विश्व-मैत्री का परिचय देना,

मल्लिका के चरित्र से सीखा जा सकता है। प्रतिकूल-भावना भी उसके हृदय में नहीं उठती, मनोभावों पर भी एक मुक्त पुरुष का सा उसका अधिकार है, इस दृष्टि से उसके चरित्र में थोड़ी अस्वाभाविकता आ गई है। इस सम्बन्ध में हमारे हृदय में सन्देह न उठे, इसी से नाटककार ने मल्लिका को कई पात्रों से बार-बार, 'देवी' कहलवाया है। श्यामा उसे देखकर कहती है, "जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं, वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है।" मल्लिका के ही शब्दों में हम मल्लिका के लिए कह सकते हैं कि उसे "केवल स्त्री-सुलभ सौजन्य और संवेदना तथा कर्त्तव्य और धर्म की शिक्षा मिली है।" इनमें से एक-एक गुण का उसने ऐसा उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित किया है कि मस्तक श्रद्धा से स्वयं नत हो जाता है।

मागंधी को हम तीन रूपों में देखते हैं—महारानी के, वेश्या के और आम्रपाली के। ये तीन रूप मानो उसके जीवन-नाटक के तीन अङ्क हैं। रानी के रूप में वह एक रूप-गर्विता रमणी है, पर तिरस्कृता होने से विक्षुब्ध सी पाई जाती है। अतः पति के प्यार को वह छल से प्राप्त करना चाहती है। उदयन के आने पर उसे गान से मोहित करती हुई वीणा में नवीना दासी के द्वारा साँप का बच्चा रखवा कर व्यंग्य के द्रव में पद्मावती के प्रति सन्देह का विष मिलाकर महाराज के हृदय पात्र में उड़ेल देती है। उसका छल उस समय काम कर जाता है। जब उसे पता चलता है कि उसका षड्यन्त्र प्रकट होने वाला है, तब अपने राज-मन्दिर में आग लगाकर भाग जाती है।

फिर हम उसे श्यामा नाम से काशी की प्रसिद्ध वारविलासिनी के रूप में पाते हैं। रानी के रूप में उसका प्रभावशाली रूप, मदिरा सेवन, अतृप्त वासना और छल मानो वेश्या-जीवन की भूमिका थे। शैलेन्द्र डाकू की वह अनुरक्ता है। भयानक रात में वह उससे मिलने जाती है और उसके प्रेम के लिए वह समुद्रदत्त की हत्या करवाती है। शैलेन्द्र उसके साथ विश्वासघात करता है और अपना भेद खुलने के भय से उसका गला घोटकर एक विहार के समीप डाल आता है। समुद्रदत्त के प्रति उसकी निष्ठुरता का मानो दैव की ओर से यह प्रत्युत्तर है।

गौतम के उपचार से उसकी साँस लौटती है और उसके साथ उसके

प्रायश्चित का जीवन आरम्भ होता है। मागन्धी का काम अब आम्र की बारी लेकर बेचना है। जीवन के प्रारम्भ में गौतम को उसने पति रूप में प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। उस रूप में तो वह उन्हें प्राप्त नहीं कर सकी; पर जीवन की संध्या में आत्मा के उद्धारक के रूप में उन्हें उसने पाया। उनकी करुणा से छलभरी मागन्धी, पतिता श्यामा, सरल और निर्मल हो गई।

छलना का नाम ही उसका परिचय है। पद्मावती और अजात के तर्क-वितर्क में हम उसे अजात का पक्ष लेते हुए हिंसा का प्रतिपादन करते पाते हैं। गौतम जब बिम्बसार को उपदेश देते हैं, तब छलना को यह बात नहीं सुहाती और वह वहाँ से चली जाती है। शक्ति की वह भूखी है और अहङ्कार उसके हृदय में वास करता है। सन्देह उसके हृदय को घेरे रहता है और सापत्न्य-डाह से वह झुलसी जाती है। पद्मावती के सम्बन्ध में उसका विचार है कि वह राज्य आत्मसात् करने आई है और वासवी के सम्बन्ध में उसकी धारणा है कि वह दिखावे का प्रेम करती है। बिम्बसार सिंहासन का परित्याग करते हैं और अपने पुत्र के हाथों बन्दी जैसा जीवन व्यतीत करते हैं; पर छलना को इसका दुःख तो क्या, परवा भी नहीं है। वासवी के तो अस्तित्व को वह सहन नहीं कर सकती। उसे क्लेश पहुँचाने में ही उसे सुख मिलता है। काशी पर अधिकार होने की सूचना देने छलना स्वयं आती है। उस समय उसका एक-एक शब्द विष में बुझे हुए बाण-सा छूटता है—

छलना—वासवी, तुमको तुम्हारी असफलता सूचित करने आई हूँ।

बिम्बसार—तो राजमाता को कष्ट करने की क्या आवश्यकता थी? यह तो एक सामान्य अनुचर कर सकता था।

छलना—किन्तु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और सन्देश भी अच्छी तरह से नहीं कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता, न वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता।

छलना के गर्व-शृङ्ग को धराशायी करने वाला, सापत्न्य-ज्वाला को शान्त करने वाला, वही पुत्र-प्रेम है जो उसके अहं को उभारने वाला, और डाह

को उकसाने वाला हुआ। अजात के बन्दी होने पर छलना वासवी की शरण में जाती है और सच्चे अर्थ में माता, पत्नी और नारी बनकर लौटती है।

वासवी भारतीय नारी का आदर्श है। छलना की चारित्र्य-प्रतिद्वन्द्विता में रखने के लिए ही जैसे 'प्रसाद' ने उसका निर्माण किया है। छलना जहाँ वासवी की कन्या पद्मावती को सन्देहास्पद समझती है, वासवी वहाँ छलना के पुत्र अजात को अपना पुत्र ही मानती है। छलना जहाँ सपत्नी-डाह से प्रेरित व्यंग्यबाण छोड़ती है, वासवी वहाँ अत्यन्त सौम्यता से उसे कल्याण-पथ सुझाती रहती है। छलना ने उसे बन्दिनी बनवा दिया है, वासवी छलना के बन्दी पुत्र को मुक्त कराने भाई के पास दौड़ी जाती है। छलना अधिकार-लिप्सा में जहाँ पति से विमुख हो गई है, वासवी वहाँ वैभव का परित्याग कर, पति की चरणसेवा-में लीन रहती है। जिस देवदत्त ने मगध और वासवी का इतना अनिष्ट किया, उसे भी वासवी बन्धनमुक्त कराती है। यदि छलना गृह-कलह का मूल है, तो वासवी गृह में स्नेह और शान्ति का स्रोत बहाने वाली सरसी। उसके अनुग्रह से ही पिता-पुत्र, पत्नी-पति फिर से मिलते है। छलना का हृदय जितना क्षुद्र है, वासवी का उतना ही विशाल। वासवी की उज्ज्वल और स्नेहसिक्त आत्मा के दर्शन कराने वाले इस कथोपकथन को देखिये। क्या ही अच्छा होता यदि 'प्रसाद' इसी प्रकार के कथोपकथन अधिक संख्या में लिख पाते—

छलना—(हँसकर) अरे सपत्नी का काम तो तुम्हीं ने कर दिखाया। पति को तो वश में किया ही था, मेरे पुत्र को भी गोद में ले लिया। मैं····

वासवी—छलना ! तू नहीं जानती, मुझे एक बच्चे की आवश्यकता थी, इसलिए तुझे नौकर रख लिया था, अब तो तेरा काम नहीं है।

छलना—बहिन इतनी कठोर न हो जाओ।

वासवी—(हँसती हुई) अच्छा जा, मैंने तुझे अपने बच्चे की धात्री बना दिया। देख अबकी अपना काम ठीक से करना, नहीं तो फिर····

छलना—अच्छा स्वामिनी !

वासवी—पद्मा ! जब उसे पुत्र हुआ, तब इससे कैसे रहा जाता। वह सीधा श्रावस्ती से महाराज के मन्दिर में गया है। सन्तान उत्पन्न होने पर अब उसे पिता के स्नेह का मोल समझ पड़ा है।

छलना—बेटी पद्मा ! इसी से कहते हैं कि काठ की सौत भी बुरी होती है।

वासवी—चल चलें, तुझे तेरा पति भी दिला दूँ और बच्चा भी। यहाँ बैठकर मुझसे लड़ मत कङ्गालिन !

'स्वगत' और गान अजातशत्रु में बिखरे पड़े हैं। जहाँ नाटककार उत्कृष्ट कवि भी हो, वहाँ गानों की क्या कमी ? प्रत्येक गीत चाहें वह वासवी के मुख से निकला हो, चाहे गौतम अथवा मागंधी के, पात्र के आचरण और उसकी मानसिक स्थिति का द्योतक है। 'आप ही आप' जैसे पुराने नाटकों का स्मृति-चिह्न है, उसी प्रकार कहीं-कहीं पात्रों का पद्य में भाव-प्रदर्शन, यह बात थोड़ी खटकती है। कविता में कहीं वासवी सुखद गृहस्थी का चित्र खींचती है, कहीं गौतम करुणा अथवा अस्थिरता की व्यापकता दिखाते हैं। इसी प्रकार कहीं उदयन और कहीं मागंधी आँख मीचकर या खोलकर कविता में बर्राते हैं। यह सब कुछ गद्य में होता तो चाहे उतना सरस न होता, पर स्वाभाविक होता। मागंधी के मुख से जितने गान निकले हैं वे सब सरस, भावपूर्ण और संगीत के तत्वों को लिए हुए हैं। कई स्थलों पर पात्र मनोभावों में डूबकर उनका गम्भीर विश्लेषण करते दिखाई पड़ते हैं जिससे चाहे कविता सुन्दर बन पड़ी हो; पर गीत का भाव पंक्तियों से उड़ गया है।

कथोपकथन इस नाटक में कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गये हैं। भाषा यद्यपि कहीं उतरी नहीं है; परन्तु कहीं-कहीं जड़ी-सी लगती है। 'प्रसाद' की भाषा पर दुरूहता का आरोप न करके अनुपयुक्तता का आक्षेप होना चाहिये। उनकी कहीं भी और कैसी ही पंक्तियाँ हों, थोड़ा सोचने से अर्थ निकल ही आता है। दुरूहता एक सापेक्षिक बात है। जो भाषा को दुरूह कहता है, वह अपनी अयोग्यता प्रकट करता है। पर नाटक में, जिससे आशा की जाती है कि वह अभिनय के लिए है, ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये जिसमें 'प्रसाद' गुण न हो। प्रथम अंक के आठवें दृश्य में

विरुद्धक मल्लिका की कल्पना मल्लिकापुष्प के रूप में करता हुआ भावना को खींचे चला जाता, चला ही जाता है ! निश्चय ही दर्शक उसकी उस वाणी को सुन कर उसका मुँह ताकते हुए सोचेंगे, "यह कह क्या रहा है ?" इसी प्रकार पत्नियों के बीच में खिंचे-खिंचे फिरने वाले उदयन की रूपासक्ति की वाणी को सुनिये। हृदय जब गद्‌गद हो जाता है, तब कहीं कल्पना ऐसे जहाजों पर लगाती है ?

"तो मागंधी, कुछ गाओ। अब मुझे अपने मुखचन्द्र को निर्निमेष देखने दो कि मैं एक अतीन्द्रिय जगत् की नक्षत्रमालिनी निशा को प्रकाशित करने वाले शरच्चन्द्र की कल्पना करता हुआ सीमा को लाँघ जाऊँ, और तुम्हारा सुरभि-निःश्वास मेरी कल्पना का आलिङ्गन करने लगे।"

अवकाश निकाल कर नाटककार ने इसमें छोटे-बड़े के प्रश्न और समाज तथा जीवन में नारी के अधिकार पर भी विचार किया है। पता नहीं नारी-समाज इस कर्म-विभाजन से कहाँ तक सहमत होगा और पुरुष-समाज इस स्वभाव-विश्लेषण को कहाँ तक संगत समझेगा; पर कारायण के लिए तैयार किये हुए 'प्रसाद' के भाषण में यह लिखा मिलता है—

'विश्व भर में सब कर्म सबके लिए नहीं हैं, इसमें कुछ विभाग हैं अवश्य। सूर्य अपना काम जलता-बलता हुआ करता है और चन्द्रमा उसी आलोक को शीतलता से फैलाता है। क्या उन दोनों में परिवर्तन हो सकता है....तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है, और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है—स्त्री-जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है—जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं। इसलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहन आवरण दिया है—'रमणी का रूप'।"

हास्य में 'प्रसाद' को सफलता कहीं नहीं मिली। इस नाटक का व्यवहार-कुशल विदूषक वसंतक यद्यपि कोरा विदूषक नहीं है, एक पात्र का काम देता है; क्योंकि पेट की बात करते-करते वह पते की बात भी कहता है; पर उसका

हास्य भी पारिभाषिक और श्लिष्ट (जैसे 'आदर्श') शब्दों की गम्भीरता लिये हुए है।

नाटक के दृश्यों के बीच पात्र झटके के साथ 'प्रस्थान' करते हैं और कथोपकथन के बीच अकस्मात् प्रवेश। इससे कथानक में एक प्रकार की गति आ गई है।

एक आलोचक को अजातशत्रु की 'वस्तु-रचना में उद्देश्यहीनता' दिखलाई दी है। अजातशत्रु का उद्देश्य है 'सुखद गृहस्थी की स्थापना।' मगध, कोशल, कौशाम्बी के राजकुल की घटनायें एक प्रकार से तीन परिवारों की घटनायें हैं। प्रजा जैसी वस्तु इस नाटक से उड़-सी गई है। राजनीतिक घटनायें और पारिवारिक घटनायें एक हो गई हैं। ये तीनों गृहस्थियाँ छिन्न-भिन्न हैं और अंत में सँभल जाती हैं। विद्रोही विनयी हो जाते हैं और बिछुड़े मिल जाते हैं। इस उद्देश्य का पता तो प्रथम दृश्य में ही लग जाता है। फिर सन्देह कैसा? वासवी कहती है—राज-परिवार में क्या सुख अपेक्षित नहीं है?

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में,
कुल-लक्ष्मी हों मुदित, भरा हो मङ्गल उनके जीवन में।
बन्धु-वर्ग हों सम्मानित, हों सेवक सुखी, प्रणत अनुचर,
शांतिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर॥

क्षणिक विज्ञानवादी भगवान् अमिताभ के शीतल प्रभाव की छाया में करुणा और सेवा, क्षमा और अनुग्रह, पवित्रता और विश्वबन्धुत्व की प्रयोग-शाला-सा यह नाटक बौद्ध-धर्म का पवित्र जय-घोष है।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की मृत्यु के उपरान्त सन् ४१४ में कुमारगुप्त सिंहासन पर बैठा। वह अपने पिता के समान ही वीर और राज्यकार्य में दक्ष था। उसने अश्वमेध यज्ञ किया, जिससे पता चलता है कि उसके आधिपत्य को अन्य शासक स्वीकार करते थे। कुमार एक प्रतापशाली सम्राट् था। उसके समय के कुछ शिलालेख और ताम्रपत्र मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि उसने बहुत सी पदवियाँ धारण की थीं जैसे 'महेन्द्रादित्य' 'श्री अश्वमेध महेन्द्र' 'श्री महेन्द्र' आदि। इन्हीं के आधार पर 'प्रसाद' जी ने स्कन्द के मुख से अपने पिता को 'परम भट्टारक महाराजाधिराज अश्वमेध पराक्रम श्रीकुमारगुप्त महेन्द्रादित्य' कहलवाया है। चन्द्रगुप्त ने सौराष्ट्र (काठियावाड़) विजय किया था। कुमारगुप्त के समय में वहाँ राज्य की ओर से शासन करने वाले सम्राट् के अनुज गोविन्दगुप्त का नाम मिलता है। फ़ैजाबाद ज़िले के कारमण्डी (Karmandi) स्थान के शिलालेख से जो सन् ४३६-३७ का है यह भी पता चला है कि पृथ्वीसेन कुमारगुप्त का प्रधान मन्त्री था। 'प्रसाद' ने भी पृथ्वीसेन को 'मन्त्री कुमारामात्य' रखा है। पश्चिमी मालवा के मन्दोसर (Mandosar) स्थान के शिलालेख में जो सन् ४३७-३८ का है, बन्धुवर्मन का नाम आया है, जिसने कुमारगुप्त की अधीनता स्वीकार की थी। यह जानने पर प्रथम अंक में हूणों के विरुद्ध सहायता माँगते समय मालवदूत का यह वाक्य 'तब भी मालव ने कुछ समझकर किसी आशा पर ही अपनी स्वतन्त्रता को सीमित कर लिया था,' हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। कुमारगुप्त ने ४० वर्ष तक शांतिपूर्वक राज्य किया। ४५५ ई० में सम्राट की मृत्यु पर स्कन्दगुप्त सिंहासनासीन हुआ।

स्कन्दगुप्त के शासनकाल का बहुत कुछ पता दो शिलालेखों से चलता है। गाज़ीपुर ज़िले के भिटारी (Bhitari) गाँव में जो स्तम्भ है, उससे पता चलता है कि कुमारगुप्त के अन्तिम दिनों में स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों और

हूणों को पराजित किया था। पुष्यमित्रों के सम्बन्ध में कुछ लोगों का विश्वास है कि ये ईरानी थे और हूण तो मध्य एशिया की एक बर्बर जाति थी ही। हूणों के आक्रमण स्कन्द के राज्यकाल में और भी वेग से हुए। उनके आक्रमण से सबसे गहरा धक्का लगता था सौराष्ट्र, मालवा और कभी-कभी अंतर्वेद (गंगा-यमुना के बीच की भूमि) को भी। जूनागढ़ के शिलालेख से पता चलता है कि स्कन्दगुप्त इन स्थानों की रक्षा के लिए बहुत चिन्तित रहते थे। बहुत सोच-विचार के उपरान्त उन्होंने तीन विश्वस्त शासकों को निर्वाचित किया। पश्चिमी प्रांतों का शासक पर्णदत्त नियुक्त हुआ, अंतर्वेद का शर्वनाग विषयपति और कोसाम (Kosam) भाग का भीमवर्मन्। स्कन्दगुप्त को अपने अंतिम दिनों में विकट हूणों का फिर सामना करना पड़ा। एक तो पंजाब पर गुप्त सम्राटों का अधिकार नहीं था, दूसरे पुरुगुप्त के कारण जो मगध के सिंहासन के लिए स्कन्द का विरोधी था (४६६-६७ ई० में तोरमान की अध्यक्षता में) हूणों की बन आई। कुमारगुप्त के समय में भी स्कन्द अपने पिता की मृत्यु के समय हूणों से लड़ रहे थे और विजय का संवाद उन्होंने अपनी विधवा माता को दिया था। नाटक में भी कुमारगुप्त की मृत्यु के समय स्कन्द को दूर रखा गया है। सन् ४६८ में स्कन्द की मृत्यु के उपरांत पुरुगुप्त, जो उसका वैमात्र भाई था, मगध के सिंहासन पर बैठा। कुछ सिक्कों पर 'प्रकाशादित्य' नाम पाया जाता है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि सम्भव है यह गुप्तकुल का शासक हो और जैसे पुरुगुप्त ने पूर्व में मगध पर अधिकार कर लिया था, वह साम्राज्य के मध्य भाग का शासक बन बैठा हो। 'प्रसाद' जी ने 'प्रकाशादित्य' पुरुगुप्त की पदवी मानी है। अधिक संगत तथ्य यही प्रतीत होता है। पाँचवें अंक के प्रारम्भ में उन्होंने मुद्गल से कहलवाया है—"सम्राट् (पुरुगुप्त) की उपाधि है 'प्रकाशादित्य'; परन्तु 'प्रकाश' के स्थान पर अँधेरा है, 'आदित्य' में गर्मी नहीं।"

मुहरों (Seals) से अधिकारियों के पद का पता चलता है। मंत्री 'कुमारामात्य' कहलाते थे। साम्राज्य प्रान्तों में बँटा हुआ था, जिन्हें 'देश' कहते थे। प्रांत जिलों में विभाजित थे; जिन्हें 'प्रदेश' अथवा 'विषय' कहते

थे। प्रान्तपति के साथ बहुत से अफ़सर काम करते थे जिनमें से हमारे काम के महाप्रतिहार (Chamberlain) कुमारामात्य अधिकरण (Chief minister) तथा महादण्डनायक (Chief Magisterial Officer) हैं।

ऐतिहासिक नाटक में पुरुष-पात्र तो बहुत कुछ ऐतिहासिक हो सकते हैं; पर स्त्री-पात्र नहीं। कारण यह है कि जब तक कोई स्त्री महारानी न हो अथवा किसी प्रकार की राजनीतिक हलचल में भाग न ले, तब तक इतिहासकार उसके नाम को जीवित रखने की चिन्ता नहीं करता। स्त्री-पात्रों की कल्पना करनी ही पड़ती है। इस नाटक में कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त, अनन्तदेवी पुरुगुप्त, गोविन्दगुप्त, बन्धुवर्मा, भीमवर्मा, शर्वनाग, पर्णदत्त, पृथ्वीसेन, चक्रपालित, भटार्क, कुमारदास, प्रख्यातकीर्त्ति, मातृगुप्त (कालिदास नहीं) ऐतिहासिक पात्र हैं। देवकी का नाम 'प्रसाद' ने शिलालेख की एक पंक्ति से खींचा है।

'प्रसाद' जी ने कई परिवर्तन इस नाटक में किए हैं। पहिला यह कि स्कन्द के स्थान पर पुरुगुप्त को मगध का सम्राट बनाया है। स्कन्दगुप्त ने कुमारगुप्त के पश्चात् १२ वर्ष (४५५-६७) तक राज्य किया। इसके उपरांत पुरुगुप्त सिंहासन पर पाँच वर्ष तक रहा। उन्होंने अपने प्राणपन से यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि स्कन्द ही प्रसिद्ध विक्रमादित्य था और कालिदास जिसे इस नाटक में मातृगुप्त नाम से अभिहित किया है, स्कन्द के समकालीन थे। ये दोनों बातें ऐतिहासिक खोज के विरुद्ध पड़ती हैं और कम से कम अभी तक विवादास्पद हैं। मालवा का शासक बन्धुवर्मा भी स्वतंत्र नहीं था। चंद्रगुप्त द्वितीय के समय से ही मालवा साम्राज्य के अंतर्गत था। हूण सेनापति का नाम खिंगिल नहीं, 'तोरमाण' था।

'स्कन्द' इस नाटक का नायक (Hero) है, इस विषय में दो सम्मतियाँ नहीं हो सकतीं। स्वयं नाटककार 'प्रसाद' जी की भी यही धारणा है, यह बात इस संकेत से सिद्ध होती है कि उन्होंने अपने नाटक का नामकरण 'अजातशत्रु' और 'चंद्रगुप्त' की भाँति 'स्कन्दगुप्त' के आधार पर किया। फिर भी हमें नाटक के पृष्ठों में प्रवेश करके देखना चाहिए कि क्या स्कन्दगुप्त वास्तव में नाटक का नायक है।

एक अत्यन्त स्थूल प्रमाण जिससे स्कन्दगुप्त को नाटक का नायक कह सकें यह है कि रंगमंच पर सबसे अधिक प्रभावशाली अधिकार स्कन्द का है। नाटक प्रारम्भ होता है स्कन्दगुप्त के वार्तालाप से और समाप्त होता है देवसेना के साथ उसी की बातचीत से। साथ ही नाटक के मध्य में जितनी घटनायें हैं उनमें स्कन्द के कार्य ही सबसे अधिक बिखरे पड़े हैं।

मगध के सम्राट महाराज कुमारगुप्त की दो रानियाँ थीं—एक देवकी दूसरी अनन्तदेवी। स्कन्दगुप्त देवकी का पुत्र था और अनन्तदेवी का पुत्र था पुरुगुप्त। अनन्तदेवी छोटी रानी होने पर और यह जानते हुए भी कि उसका पुत्र सिंहासन का अनधिकारी था, पुरुगुप्त के लिए राज्य चाहती है। अतः इस नाटक में दो विरोधी दल हैं—एक अनन्तदेवी पुरुगुप्त का—विजया, भटार्क प्रपंचबुद्धि इनके सहायक हैं; दूसरा स्कन्द का—देवसेना, पर्णदत्त, धातुसेन आदि इनके साथी हैं। स्कन्द का पक्ष सत् का है, अनन्तदेवी का असत् का; स्कन्द विजयी होता है, अनन्तदेवी पराजित। इस दृष्टि से भी स्कन्द नाटक का नायक है।

पर इस नाटक का प्रधान कार्य सिंहासन-प्राप्ति नहीं है। स्कन्दगुप्त राज्य की ओर से उदासीन है, उसे राज्य नहीं चाहिये। उसने स्वयं कहा है, "मेरा अकेला जीवन है, मैं झगड़ा करना नहीं चाहता।" नाटक का उद्देश्य अत्यन्त व्यापक और महान् है। वह है आर्य-साम्राज्य का उद्धार। इस आर्य-साम्राज्य का उद्धारकर्ता नाटक में स्कन्दगुप्त है और यही वह कार्य है जिससे हम उसे नायक कह सकते हैं। यह आर्य-साम्राज्य भीतरी षड्यन्त्रों के कारण डाँवाडोल स्थिति में था, और बाहरी झंझटों, विशेषकर हूणों के आक्रमणों के कारण संकट में पड़ गया था। इसका उद्धार क्या अनन्तदेवी, पुरुगुप्त तथा उनके साथियों ने किया? नहीं। वे तो हूणों से मिले हुए थे, राष्ट्र का नाश करना चाहते थे, देश में दासता लाने वाले थे। इस सम्बन्ध में एक और पात्र है जिसका नाम आदर से लेना चाहिये,—वह है बन्धुवर्मा। बन्धुवर्मा का त्याग इस क्षेत्र में महान् तो था, पर वह स्कन्द का सहायक मात्र था। आर्य-राष्ट्र के उद्धार की बात जहाँ आती है वहाँ सभी की दृष्टि स्कन्द पर जाती है। 'आशा का ध्रुव-नक्षत्र' एक मात्र

स्कन्द ही था। उसने आन्तरिक षड्यंत्रों को शांत किया, आक्रमण-कारियों से देश को मुक्त किया और अपनी महान् उदारता से, प्राप्त सिंहासन को अपने विरोधी और वैमात्र भाई पुरुगुप्त के लिए छोड़ दिया। अतः हिंदू राज्य का उद्धारकर्ता, आर्य-राष्ट्र का संस्थापक स्कंद ही वास्तव में नाटक का नायक है।

अपनी स्थिति और कर्मों के प्रति असंतोष तथा विरोध-वितृष्णा ही स्कन्द की जीवन-व्यापिनी मानसिक स्थिति है। राजा के घर में उसका जन्म हो गया है, पर वह राजा नहीं होना चाहता। उसे युद्ध करने पड़ते हैं, पर रक्त बहाना उसे प्रिय नहीं है। विजया को प्रेम करता है, वह दूसरे की हो जाती है। देवसेना को वह अपनाना चाहता है, वह उसका तिरस्कार कर देती है। नियति के हाथ का वह इस प्रकार एक खिलौना रहा है। राजा न होकर यदि वह एक सामान्य व्यक्ति होता तो अधिक सुखी रहता। वैसे स्कन्द वीर है। आक्रमण करता है तो प्रबल पराक्रम से। रणक्षेत्र में उसका खड़ा होना और विजय का खड़ा होना एक बात है। साम्राज्य पर सङ्कट होते हुए निमन्त्रण पाकर वह इसी से मालव की रक्षा के लिए उद्यत होता है। पर सङ्घर्ष जैसे उसका वास्तविक अथवा इच्छित स्वरूप नहीं है। चक्रपालित से वह कहता है, "वसन्त के मनोहर प्रभात में, निभृत कगारों में चुपचाप बहने वाली सरिताओं का स्रोत गरम रक्त बहाकर लाल कर दिया जाय? नहीं, नहीं, चक्र! मेरी समझ में मानव-जीवन का यही उद्देश्य नहीं है।"

वास्तविक स्कन्दगुप्त है प्रेम में, त्याग में, क्षमा में, कृतज्ञता में। कृतज्ञ इतना है कि देवसेना के प्राण बचाने के उपलक्ष्य में मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना देता है। क्षमाशील इतना है कि शर्वनाग, अनन्तदेवी और भटार्क जैसे व्यक्तिगत शत्रुओं का तो कहना क्या, देश के नृशंस शत्रु हूण-सेनापति खिंगिल तक को जीवन-दान देता है। त्यागी इतना है कि जिस साम्राज्य को अत्यन्त परिश्रम से हस्तगत किया, उसे अपने विरोधी भाई के लिए छोड़ देता है। और प्रेमी? प्रेम ही जैसे उसके प्राणों का स्वर है। मालव-युद्ध में विजया पर दुर्भाग्य से उसकी दृष्टि पड़ जाती है।

उसी समय से वह उसके हृदय को जकड़ कर बैठ जाती है। हूणों पर विजय विजया के प्रति पराजय के सामने उसे फीकी लगती है। सोचता है—"विजय का क्षणिक उल्लास हृदय की भूख मिटा देगा ? कभी नहीं।" जैसे-जैसे दिन ढलते हैं, वैसे-वैसे विजया स्कन्द के अस्तित्व को जड़ीभूत करती जाती है। जीवन के समस्त अभावों में उसकी मूर्ति ही जैसे रस भर रही है, "कोई भी मेरे अन्तःकरण का आलिंगन करके न रो सकता है और न हँस सकता है। तब भी विजया........? ओह!" यही विजया जब अपने मुख से भटार्क को वरण करने की बात कहती है, तब स्कन्द का हृदय जैसे टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। कहता है, "परन्तु विजया, तुमने यह क्या किया!"

विजया से निराश हो देवसेना के स्नेह को देख स्कन्द देवसेना को आत्म-समर्पण करना चाहता है; पर वह आघ्रात पूजा-पुष्प में ठोकर मार देती है। परिणाम यह होता है कि यह दार्शनिक सम्राट यद्यपि अपने अतुल पराक्रम से साम्राज्य में शांति और देश में कल्याण का मंत्र फूँकता है, पर हृदय में घोर अशांति और जीवन में विकट निराशा लेकर रंगमंच से हट जाता है।

स्कन्दकुप्त नाटक में तीन प्रकार के पात्र पाये जाते हैं—पहिले वे जो अंत तक दुष्ट रहते हैं जैसे अनन्तदेवी, प्रपंचबुद्धि, दूसरे वे जो अंत तक अच्छे रहते हैं जैसे देवकी, स्कन्दगुप्त, बन्धुवर्मा, देवसेना, रामा आदि और तीसरे वे जिनकी मनोवृतियों में सहसा परिवर्तन उपस्थित होता है जैसे भटार्क, विजया आदि। स्कन्दगुप्त और बन्धुवर्मा दोनों ही सत् पात्रों में से हैं; अतः यह कहना सरल नहीं है कि दोनों में कौन उज्ज्वल है ? दोनों ही उज्ज्वल हैं, हीरे हैं। पर यदि दो अच्छी वस्तुओं में से एक की ओर अंगुलि-निर्देश करना पड़े, तब हम बन्धुवर्मा के पक्ष में होंगे। स्कन्दगुप्त यद्यपि नाटक का नायक है, पर हृदय पर जो छाप बन्धुवर्मा छोड़ता है, वह अमिट रहती है। बन्धुवर्मा का चित्र एक सच्चे क्षत्रिय का चित्र है—वीर, त्यागी, राष्ट्रप्रेमी का चित्र। बन्धुवर्मा का सबसे पहिले परिचय हमें उस समय मिलता है जब सहायता के लिए वह युवराज स्कन्द की प्रतीक्षा करता है। विजयी होकर हम उसे सद्गुणों पर मुग्ध होते देखते हैं, "मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अबसे इस वीर (स्कन्द) परोपकारी के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है।" उसके हृदय की

इस उज्ज्वल झलक का प्रकाश जीवन के अंत तक देखा जाता है। अवन्ती दुर्ग के उस दृश्य को देखिए जिसमें बन्धुवर्मा मालव राज्य को 'आर्य-साम्राज्य' की प्रतिष्ठा के लिए स्कन्दगुप्त को देना चाहता है और उसकी पत्नी उसका घोर विरोध करती है। बिना माँगे निःस्वार्थ त्याग का ऐसा उदाहरण क्या कहीं अन्यत्र सम्भव है? जयमाला पैतृक राज्य के स्वत्व, उसे त्यागने से पराधीनता के अशोभन जीवन, व्यक्तित्व की रक्षा आदि के अकाट्य तर्क उपस्थित करती है; पर बंधुवर्मा निश्चल रहता है। और उसके जीवन का अंत? वह कितना स्पृहणीय है! बंधुवर्मा जानता है कि वह बच नहीं सकता; पर गांधार की घाटी से स्कन्द को दूर कर देता है और स्वयं प्राण देता है।

तब क्या स्कन्दगुप्त वीर नहीं है? है अवश्य। उसका नाम जयघोष का चिह्न है। वह मालव में विजय प्राप्त करता है, हूणों को भगाता है, द्वन्द्वयुद्ध में खिंगिल को घायल करता है। क्या वह त्याग करना नहीं जानता? उसने बराबर कहा है और सिद्ध किया है कि वह राज्य का भूखा नहीं है। क्या वह राष्ट्रप्रेमी नहीं है? कई स्थलों पर उसने आर्य-राष्ट्र के उद्धार की बात उठाई है। गोविंदगुप्त से उसने कहा था, "आर्य-राष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूँ, आप लोग इसके लिए भगवान् से प्रार्थना कीजिये।"

तब?

दोनों वीर क्षत्रियों में अन्तर यह है कि बंधुवर्मा में क्षत्रियत्व प्रमुख है, स्कन्द में 'दार्शनिक वृत्ति' एवं 'प्रेम'। बंधुवर्मा में स्फूर्ति स्वाभाविक है, स्कंद के वीरभाव को उकसाने के लिए किसी की आवश्यकता पड़ती है। कभी चक्रपालित को कहना पड़ता है, "यह तुच्छ प्राणों का मोह है", कभी कमला को कहना पड़ता है, "स्वानुभूति को जाग्रत करो।" स्कन्द यदि राजा न होता, तो दार्शनिक होता। बंधुवर्मा से वह कम कर्मण्य है। वह स्वयं कहता है, "गुप्त सम्राट् के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया-कलाप में संलग्न कर रखा है।" दूसरी बात जहाँ वह बंधुवर्मा से हार खाता है, वह है 'प्रेम-भावना'। प्रेम जीवन का प्रमुख अंग होते हुए भी सब कुछ नहीं है। देवसेना ने भी उसे इस बात से सचेत किया है। एक-एक उदाहरण देखिये—

स्कन्द—देवसेना, एकान्त में किसी कानन के कोने में तुम्हें देखता हुआ जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं, एक बार कह दो।

पर बन्धुवर्मा जयमाला के प्रस्तावों से खीझकर कहता है—

"तब मैं इस कुटुम्ब की कमनीय कल्पना को दूर ही से नमस्कार करता और आजीवन अविवाहित रहता। अकर्मण्यता और शरीर-पोषण के लिए क्षत्रियों ने लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है।"

भटार्क महत्त्वाकांक्षा की प्रतिमूर्ति है। इस वृत्ति की प्रेरणा के कशाघात से ही उसके समस्त कार्यों का संचालन होता है। कुमारगुप्त की सभा में सबसे पहिले वह इस मनोभाव का परिचय देता है। मन्त्री पृथ्वीसेन युवराज स्कन्द को सौराष्ट्र भेजने के लिए सम्राट् से अनुरोध करता है, तब भटार्क वहाँ जाने के लिए एक रणदक्ष सेनापति की आवश्यकता बतलाता है। अनन्तदेवी के सामने तो उसने खुलकर स्वीकार किया है, "बाहुबल से, वीरता से और अनेक प्रचण्ड पराक्रमों से ही मुझे मगध के महाबलाधिकृत का माननीय पद मिला है, मैं उस सम्मान की रक्षा करूँगा।" प्रपञ्चबुद्धि और शर्वनाग के सामने भी वह इसी बात को दुहराता है, "मुझे कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा—लूँगा।" जो व्यक्ति 'जैसे मिलेगा लूँगा' पर उतर आता है, वह फिर क्या नहीं कर सकता? नाटक में तुरन्त अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए चार महत्वाकांक्षी एकत्र हो जाते हैं। भटार्क महाबलाधिकृत बना रहना चाहता है, अनन्तदेवी राजमाता बनना चाहती है, प्रपञ्चबुद्धि बौद्ध-धर्म का उद्धार करना चाहता है और विजया 'गुप्त-साम्राज्य के महा-बलाधिकृत' (भटार्क) को वरण करना चाहती है। अनन्तदेवी और प्रपञ्चबुद्धि से मिलकर भटार्क महाराज के निधन में सहायक होता है, और देवकी को भी संसार से विदा करना चाहता है। स्कन्द का जब अभिषेक होने वाला है, तब उज्जयिनी में षड्यन्त्र रचने आता है; पर पकड़ा जाता है। अपराध स्वीकार करने पर स्कन्द उसे क्षमा कर देता है। उस समय आशा होती है कि भटार्क अब दुष्कर्मों से विरत हो जायगा। पर स्कन्द के साथ हूणों के

युद्ध में मगध की सेना का सञ्चालन करते समय वह कुभा (काबुल) नदी का बाँध तोड़ देता है। स्पष्ट ही यहाँ उसने विश्वासघात किया है। भटार्क वीर था, इसमें तो कोई सन्देह नहीं कर सकता। केवल उसके मुख से ही हम नहीं सुनते कि उसका खड्ग आग बरसाता है, रणनाद शत्रु के कलेजे कँपाता है और उसका लोहा भारत के क्षत्रिय मानते हैं; वरन् स्कन्द जैसा वीर भी उसके पतन पर उसे लज्जित करते हुए इतना स्वीकार करता है—"तुम्हारे खड्ग पर साम्राज्य को भरोसा था।" सम्राट कुमारगुप्त ने भटार्क के स्वभाव को पहचान कर यदि कहीं सेनापति बना दिया होता, तो भटार्क का आचरण भिन्न प्रकार का होता। भटार्क को जो हमने विश्वासघाती कहा है वह स्कन्द (देश) के पक्ष की दृष्टि से। अनन्तदेवी के साथ उसने कभी विश्वासघात नहीं किया। स्कन्द जब उसे अपराधी ठहराता है, तब वह अपने कर्म के औचित्य की रक्षा करता हुआ कहता है, "मैं केवल राजमाता की आज्ञा का पालन करता था।" कुभा के रण-क्षेत्र में जब स्कन्द उसे फिर 'कृतघ्न' कहता है, तब भी वह यही उत्तर देता है, "मेरा खड्ग साम्राज्य की सेवा करेगा।" उसकी मा उसे धिक्कारती है, तब भी यह प्रण नहीं करता कि वह स्कन्द का साथ देगा, केवल यही कहता है, "मैं इस संघर्ष से अलग हूँ।" सद्बुद्धि भटार्क से एकदम विलुप्त नहीं हो गई, पर वह महत्वाकांक्षी की अन्धवृत्ति के सामने उभर नहीं पाती। पृथ्वीसेन की आत्महत्या पर उसे शोक हुआ था। वीर होकर वीरों का मूल्य वह न जानता, तो आश्चर्य ही होता। अन्त में अपनी भूल को वह सुधारता है और देश-सेवी बन जाता है। भटार्क ने एक बार प्रपञ्चबुद्धि से कहा था, "मैं तुम्हारी प्रवृत्ति जानता हूँ, तुम इतने उच्च भी नहीं हो।" इन दोनों वाक्यों में एक प्रकार से भटार्क का चरित्र खिंच आया है। बहुत दिनों तक उस पर प्रपञ्च की धारणा ही लागू होती है। जीवन के अन्त में उसने इस धारणा को बदल दिया और अपनी इस वाणी को ही प्रमाणित किया—

मैं इतना नीच नहीं हूँ।

महाराज कुमारगुप्त की छोटी रानी अनन्तदेवी इस नाटक का विष है।

अपने पति और पुत्र दोनों के पतन का मुख्य कारण वही है। घर में फूट डालने वाली और साम्राज्य की शक्ति को क्षीण करनेवाली वही है। जिस प्रकार अपनी शक्ति की वृद्धि के लिए वह विलासी सम्राट् को नृत्य, गान और मदिरा में लीन रखती है, उसी प्रकार अपने पुत्र को भी उसने विलासी और मदिरा-सेवी बना दिया है। स्त्री के रूप में न वह अच्छी पत्नी है और न भली माता। एकदम निर्भीक है वह। जिस प्रपंचबुद्धि को देखकर भटार्क जैसे वीर का सिर घूमने लगता है, उससे वह हँस-हँस कर बातें करती है! षड्यन्त्रकारियों की वह मुखिया है, और हृदय से अत्यन्त क्रूर है। महाराज को मदिरा से मत्त करके घोर रात में भटार्क और बौद्ध कापालिक से मिलती है। अपने पति की हत्या करवाती है, सौतिया डाह के कारण देवकी के वध का प्रयत्न करती है, तथा हूणों से मिलकर स्कन्दगुप्त के साम्राज्य के विनाश की चिन्ता में रत रहती है। अनन्तदेवी छल की पुतली है। भटार्क की महत्वाकांक्षा से लाभ उठाकर और उससे थोड़ा मुस्कराकर काम लेती रहती है। प्रपंचबुद्धि को यह प्रलोभन है कि पुरुगुप्त यदि शासक हो गया तो अनन्तदेवी बौद्ध-धर्म का समर्थन करेगी। हूणों की सहायता करने में भी उसका मुख्य उद्देश्य पुरुगुप्त को सम्राट् बनाना ही है, पर वे भी छल में आकर स्कन्दगुप्त को चैन नहीं लेने देते। उसकी नस-नस में छल भरा है। भटार्क मिलकर जाने को कहता है, तो कुटिल स्नेह-दृष्टि से देखती हुई उससे कहती है, "भटार्क जाने को कहूँ? इस शत्रु-पुरी में मैं असहाय अबला इतना—आह!" और तुरन्त रोने लगती है। एक बार विजया भड़कती है तो उसे प्रलोभन देती है, "क्या तुम पुरुगुप्त के साथ सिंहासन पर नहीं बैठना चाहती हो?" आत्म-सम्मान की भावना उसमें बिलकुल नहीं है। बंदी होकर जब वह स्कन्द के सामने आती है, तब निस्संकोच भाव से क्षमा माँग लेती है। स्कन्द ने उसे 'कैकेयी' कहा था। कैकेयी भी अपने रूप-यौवन की शक्ति से महाराज की इसी प्रकार मुँहलगी हो गई थी। भाई से भाई को उसने भी इसी प्रकार पृथक किया और पति के प्राण लिए। पर दुष्टता में अनन्तदेवी कैकेयी से भी इक्कीस थी। उसके नाम के पीछे 'देवी' शब्द व्यर्थ जोड़ा गया है। हाँ, उसमें छल अनन्त है, क्रूरता अनन्त है,

निर्भीकता अनन्त है और है अनन्त निर्लज्जता !

विजया मालव के धनकुवेर की सुन्दरी कन्या है । हृदय से दुष्टा है। उसके विषय में तुलसी के शब्दों में यही कहना उचित है—'विषरस भरा कनकघट जैसे ।' देवसेना की वह सखी है, पर जब से स्कन्द के दर्शन दोनों को होते हैं, तब से विजया सरल देवसेना की प्रबल प्रतिद्वन्द्विनी के रूप में हमारे सामने आती है ।

विजया के हृदय का सबसे प्रबल भाव है—वैभव को प्रेम करना। उसे पहिले स्कन्द के प्रति आकर्षण होता है । उस आकर्षण में वीरता और सुन्दरता ने काम किया है यह सत्य है—'कैसी भयानक और सुन्दर मूर्ति है'; पर वैभव का ज्ञान उसमें प्रमुख है । देवसेना से वह स्वीकार करती है, "एक युवराज (स्कन्द) के सामने मन ढीला हुआ, परन्तु मैं उसे कुछ राजकीय प्रभाव भी कहकर टाल दे सकती हूँ ।" स्कन्द की ओर से निराश होकर जब वह भटार्क की ओर मुड़ती है, तब उस आकर्षण की स्वीकृति में भी वीरता, सुन्दरता और विशेष रूप से वैभव-प्रेम तीनों मिले हुए हैं—"कैसी वीरत्व-व्यंजक मनोहर मूर्ति है ! और गुप्त-साम्राज्य का महाबलाधिकृत !"

विजया स्पर्धा और ईर्ष्या के भावों से भरी हुई है । देवसेना यद्यपि अत्यंत सरल हृदय की थी, फिर भी उसका जीवन-भर विरोध विजया ने अकारण इसलिए किया कि उसे यह संदेह हो गया था कि बंधुवर्मा के मालव देने से देवसेना का विवाह स्कन्द से होगा । उसमें प्रतिहिंसा-भावना प्रबल है जिसे उसने कई स्थलों पर स्वयं स्वीकार किया है । इस प्रतिहिंसा-भावना से प्रेरित होकर विजया स्कन्द और देवसेना का पक्ष छोड़ अनन्तदेवी की ओर मुड़ती है और क्रूर से क्रूर कर्म करने को तत्पर हो जाती है । यह विजया ही है जो देवसेना को धोखा देकर श्मशान-भूमि तक ले जाती है और प्रपञ्चबुद्धि से उसकी हत्या कराना चाहती है ।

जीवन के प्रति विजया का अत्यंत हल्का दृष्टिकोण है । उसकी प्रेम-भावना में कोई सार नहीं । कभी वह स्कन्द को प्रेम करती है, कभी भटार्क को और कभी अनन्तदेवी की आज्ञा से पुरुगुप्त का मन बहलाती है । उसके प्रेम में वासना प्रधान है । स्कन्द को तो लोभ दिखाकर भी मोल लेना

चाहती है। स्कन्द ने उसे ठीक ही फटकारा है। शरीर के सुख को वह सब कुछ समझती है। उसके भावों का परिचय वहाँ मिल सकता है जहाँ वह स्कन्द से कहती है—

"कोई दुःख भोगने के लिए है, कोई सुख। फिर सबका बोझ अपने सिर पर लादकर क्यों व्यस्त होते हो····! आओ, हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनन्द लो।"

विजया के जीवन में परिवर्तन उपस्थित होता है; पर वह सच्चा परिवर्तन नहीं है। भटार्क से वञ्चित होने पर वह अनन्तदेवी को धमकाती है और उससे तिरस्कृत होने पर उसका साथ छोड़ देती है। थोड़ी देर के लिए अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप भी प्रकट करती है और मातृगुप्त को उद्‌बोधन के गीत गाने का उपदेश भी देती है। पर उसका पश्चात्ताप सच्चा नहीं था। जीवन के सुख भोगने की लालसा उसके हृदय में बराबर बनी रही। स्कन्दगुप्त के सामने भटार्क उसे 'दुश्चरित्रा' कहता है। इससे अधिक कोई क्या कह सकता है? अपमानित होकर वह आत्मघात करती है और उसकी अन्तिम क्रिया भी सम्मानपूर्वक नहीं होती, जिस पर किसी को कोई पश्चात्ताप नहीं होता। इस प्रकार विजया नारी-जीवन के निकृष्ट पक्ष को प्रत्यक्ष करती है।

देवसेना मालवपति बन्धुवर्मा की बहन है। बाहर और भीतर दोनों ओर से सुन्दर है। यदि विजया नारी-जीवन का तम है, तो देवसेना उज्ज्वलता।

देवसेना जिस बात से सभी का ध्यान आकर्षित करती है, वह है उसका संगीत-प्रेम। युद्धकाल में भी वह गाती है। इस सम्बन्ध में उसे ताने भी सुनने पड़ते हैं। विजया कहती है, "राजकुमारी! गाने का भी रोग होता है क्या?" इसी प्रकार बन्धुवर्मा कहता है, "देवसेना! तुझे गाने का भी विचित्र रोग है।" देवसेना चट से उत्तर देती है, "रोग तो एक न एक सभी को लगा रहता है, पर यह रोग अच्छा है, इससे कितने रोग अच्छे किए जा सकते हैं।" स्कन्दगुप्त नाटक के कई कोमल-सरस-गीत देवसेना के मुख से ही निकलते हैं। उसका यह संगीत-प्रेम यहाँ तक बढ़ा हुआ है कि वह बात करते समय भी प्रायः संगीत और नृत्य के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करती है जैसे

सम, लय, स्वर, ताल, तान, आदि। गाने का देवसेना का स्वभाव तो है ही, पर कभी-कभी वह दुःख को दबाने के लिए भी गाती है—

"जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी में सब छिप जाता है।"

देवसेना आदर्श प्रेमिका है। उसके प्रेम का जीवन एक प्रकार से अत्यन्त निराशापूर्ण रहा है। देवसेना स्कन्द को प्रेम करती है और स्कन्द-गुप्त विजया को। जिस दिन देवसेना को विजया के प्रेम का पता चलता है उसी दिन उसके कठोर कर्त्तव्य का निर्णय होता है। वह स्कन्द को न छोड़ सकती है और न ग्रहण कर सकती है। विजया देवसेना का विरोध करती है, उसकी हत्या कराना चाहती है; पर देवसेना विजया के मार्ग को स्वच्छ करती है। यह बात उसने विजया और प्रपञ्चबुद्धि दोनों से स्वीकार की है। पर जिस दिन उसे यह पता चलता है कि स्कन्द भी विजया को प्रेम करता है, उस दिन से उसके दुःख का वार-पार नहीं रहता। शेक्सपियर के वे शब्द हमें अनायास याद आते हैं—

She dreams on him that has forgot her love,
you dote on her that cares not for your love,
'Tis pity love should be so Contrary,
And thinking on it makes me cry, Alas!

देवसेना के चरित्र में आकर्षण आया है, हृदय में उसके अन्तर्द्वन्द्व के कारण। जिसे प्रेम करती है उसी से वह उदासीन है। जिसके लिए उसका हृदय पुकार मचाता है, जब वह प्रेम का भिखारी बनकर आता है, तब द्वार से लौटा देती है। कैसी विलक्षण बालिका है वह! देवसेना प्रेम के लिये प्रेम करती है, स्वार्थ और सुख के लिए नहीं। प्रेम में यह अभिमान कि वह प्रतिदान नहीं चाहती, उसे ही शोभा देता है! हम चकित हो जाते हैं, जब देवसेना के विराग-गिरि से अनुराग का यह झरना फूटता है—

"इस हृदय में·······आह! कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़कर न तो कोई आया और न वह जायगा।"

प्रेमादर्श के अतिरिक्त देवसेना के चरित्र पर सान चढ़ाने वाले और कई गुण हैं। जहाँ विजया स्वार्थमयी है, वहाँ देवसेना में त्याग है। पर सबसे उज्ज्वल भाव है उसमें देश-प्रेम और देश-सेवा का। जब बन्धुवर्मा मालव का राज्य स्कन्दगुप्त को देना चाहते हैं, तब देवसेना भी 'समष्टि के लिए व्यष्टि के बलिदान्' की बात लेकर भाई का समर्थन करती है। यही देवसेना अन्त में वृद्ध पर्णदत्त के साथ देशवासियों की सेवा के लिए गाकर भीख माँगती फिरती है। उसका निराश जीवन उसके इन शब्दों में कैसा स्वच्छ उतरा है!

"संगीत सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन' तान, धूपदान की एक क्षीण गन्धधूम रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों की प्रतिकृति मेरा क्षुद्र नारी-जीवन।"

इच्छा होती है कि देवसेना थोड़ा झुक जाती।

देवकी मगध-सम्राट् कुमारगुप्त की बड़ी रानी हैं। स्कन्द की माता होने का उन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ है। कुमारगुप्त अपनी छोटी रानी अनन्तदेवी के वश में थे; अतः पति की ओर से हम उन्हें उपेक्षिता-सी पाते हैं। देवकी आदर्श हिन्दू-गृहणी का प्रतीक है; क्योंकि ऐसा देखते हुए भी पति की कल्याण-कामना से उनका हृदय परिपूर्ण है और उस ओर से वे मन में मैल तक नहीं लातीं।

पति-प्रेम के अतिरिक्त ईश्वर में अगाध विश्वास उनकी विशेषता है। उन्हें कारागार में डाल दिया जाता है, रामा उनकी हत्या करने का समाचार उन तक पहुँचाती है; पर देवकी अडिग हैं। यही कहती हैं, "भगवान की स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान कर।"

उनमें पुत्र-प्रेम भी बहुत प्रबल है। उनके हृदय की सारी ममता स्कन्द के चारों ओर सिमट कर रह गई है। बन्दीगृह में भटार्क जब उनसे भगवान् का अन्तिम स्मरण करने की बात कहता है, तब माता का हृदय रो उठता है, "मेरे अन्तर की करुण-कामना एक थी कि स्कन्द को देख लूँ।" देवकी के प्राण भी पुत्र-प्रेम में निकलते हैं। कमला के सामने जब

भटार्क कुभा की लहरों में स्कन्द के विलीन होने की बात कहता है, तब देवकी के मुख से निकलता है, 'मेरा स्कन्द, मेरा प्राण' और वहीं उनकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है।

पति-प्रेम, ईश्वर-भक्ति एवं पुत्र-प्रेम के अतिरिक्त देवकी सद्गुणों की प्रेमिका हैं। मालवा के सिंहासन पर बैठते समय स्कन्द से जो उन्होंने क्षमा-दान दिलाया है वह तो नारी के उर की कोमलता का परिचायक है ही, पर वहीं गोविन्दगुप्त के प्रति उनके ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

"महाराजपुत्र ! इसे आशीर्वाद दीजिए कि गुप्तकुल के गुरुजनों के प्रति यह सदैव विनयशील रहे।"

कमला गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत भटार्क की माता है। उसका यह दुर्भाग्य है कि उस जैसे रमणी-रत्न से भटार्क जैसा नीच पुत्र उत्पन्न हुआ। वह उत्तम गुणों की उपासिका है। पुत्र के प्रति जो दुर्बलता माता के हृदय में सामान्यतः पाई जाती है कि पुत्र चाहे कैसा ही कुपुत्र हो माता उसे नहीं त्याग सकती, वह बात कमला में नहीं है। यह देखकर कि भटार्क साम्राज्य के कुचक्रियों में से एक है और साथ ही कृतघ्न एवं देशद्रोही भी, कमला उसके ऐश्वर्य को छोड़कर उज्जयिनी के शिव-मन्दिर में भिक्षा-वृत्ति से जीवन-यापन करने आती है और स्वयं उसे बन्दी बनवाना चाहती है। वह आसुरी वृत्तियों की प्रबल विरोधिनी है। भटार्क के अशुभ आचरण को देखकर उसे अपना पुत्र स्वीकार करने तक में उसे लज्जा आती है। वह स्पष्ट कहती है—

"भटार्क ! तेरी मा को एक ही आशा थी कि पुत्र देश का सेवक होगा, म्लेच्छों से पद-दलित भारत-भूमि का उद्धार करके मेरा कलङ्क धो डालेगा, मेरा सिर ऊँचा होगा। परन्तु हाय !"

भटार्क को वह अभागा, देशद्रोही, नीच, कृतघ्न, घिनौना, नरक का कीड़ा, मूर्ख, पिशाच, पामर और न जाने क्या-क्या कहती है। एक दुष्ट के प्रति तिरस्कार के ये शब्द एक उच्चहृदया माता के मुँह से बड़े सुन्दर लगते हैं।

आर्य-पताका का उसे गर्व है और देश-सेवा के लिए प्रोत्साहित करने के लिए वह सदैव तत्पर रहती है। स्कन्द जब अपने को अकेला और निस्सहाय पाता है तब कमला ही कुटी खोलकर उसे प्रोत्साहन देती है। उसके हृदय का निर्माण देश-प्रेम, कृतज्ञता आदि सद्वृत्तियों से हुआ है। उसके विषय में गोविन्दगुप्त का यह कहना उचित ही है—"धन्य हो देवी! तुम जैसी जननियाँ जब तक उत्पन्न होंगी, तब तक आर्य-राष्ट्र का विनाश असम्भव है।"

गौण पात्रों में कुमारगुप्त प्रतापी होते हुए भी एक स्त्रैण और विलासी राजा था। शासक के रूप में यद्यपि इतिहास पुरुगुप्त की प्रशंसा ही करता है; परन्तु प्रसाद ने उसे पहिले से महत्वाकांक्षी, हत्यारा, दुर्बल और मदिरा-सेवी रखा है। नाटक में उसके आचरण के निर्माण का उत्तरदायित्व उसकी मा पर है। स्कन्द ने इसी से अनन्तदेवी से कहा था, "कुमारगुप्त के इस अग्नितेज को तुमने कुत्सित कर्मों की राख से ढक दिया।" मातृगुप्त, जैसा उसके लिये स्वाभाविक है, कोरा भावना-प्रधान व्यक्ति है। 'भूखे हृदय के आहार' की चिन्ता में ही उसका व्यक्तित्व संलग्न है। यह पता लगने पर कि उसकी प्रणयिनी मालिनी वेश्या हो गई, वह विरक्त होकर काश्मीर के सिंहासन का परित्याग कर देता है। कवियों से इससे अधिक क्या आशा की जा सकती है? शर्वनाग प्रारम्भ में कुछ मूर्ख-सा और अपनी स्त्री से भयभीत प्रतीत होता है। कुसंग के प्रभाव में उसका काफ़ी अधःपतन हुआ है; पर पाप की कीच से वह अन्त में मुक्त हो गया है। उसकी पत्नी रामा ज़बान की तेज; पर हृदय से भली है। एक आलोचक ने एक पत्रिका में उसके आचरण पर यह आपत्ति की थी कि स्कन्द ने जो उसे 'साध्वी रामा' कहा है, वह कहाँ तक ठीक है? पहिला उत्तर तो यह है कि स्कन्द के सामने रामा का सबल स्वरूप है। वह यह नहीं जानता कि वह अपने पति से एकांत में 'गोबर गणेश' 'अपदार्थ' और 'दुर्बल मद्यप' जैसे शब्दों का प्रयोग करती है। ऐसे शब्दों के प्रयोग से भी वह चाहे अशिष्ट सिद्ध हो सके, पर भला 'असाध्वी' कैसे हो गई? शर्व की मूर्खता और उसके पतन को देखते हुए हमें तो ये शब्द बिल्कुल अनुपयुक्त नहीं प्रतीत होते। 'कैसेहु पति कर

किए अपमाना, नारि पाव जमपुर दुख नाना' के एकांत आदर्श की रट जो व्यक्ति लगाते हैं उनकी दूसरी बात है। आलोचक महोदय ने शायद इस कथोपकथन की गहराई पर ध्यान नहीं दिया—

शर्व—मैं तेरा स्वामी हूँ रामा !

रामा—ओह ! बड़ी धर्म-बुद्धि जगी है पिशाच को, और यह महादेवी तेरी कौन है ?

शर्व—फिर भी मैं तेरा.............

रामा—स्वामी ! नहीं नहीं, तू मेरे स्वामी की नरक-निवासिनी प्रेतात्मा है। तेरी हत्या कैसी ! तू तो कभी का मर चुका है।

ध्यान रखना चाहिये कि शरीर किसी का प्रिय नहीं होता, आचरण ही प्रिय होता है। शर्वनाग पति के रूप में रामा के सामने नहीं आता, एक लोभी, कृतघ्न, मदिरासेवी और हत्यारे के रूप में आता है।

नाटक का काम कई पात्रों के बिना चल सकता था जैसे गोविन्दगुप्त, मातृगुप्त, धातुसेन आदि। पर मुद्गल के लिए थोड़ा सा स्थान है। उस जैसे पात्र का अस्तित्व नाटक में वैसा ही है जैसे भोजन के साथ चटनी का। केवल हास्य के विधान के लिए भी उसका रहना अनुपयुक्त न होता। पर वह केवल हास्योत्पादन के लिए नहीं है। कथानक में 'भाग' भी लेता है। पंचम अङ्क के प्रारम्भ में वह सभी पात्रों के सम्बन्ध में कुछ न कुछ कहता है। प्राचीन नाटकों के 'विष्कंभक' का काम 'प्रसाद' जी ने वहाँ बड़े कौशल से उससे निकाला है।

पात्रों का निर्माण उन्होंने कुछ इस ढंग से किया है कि एक पात्र अपने स्वभाव की प्रतिकूलता (Contrast) से दूसरे पात्र की आचरण-रेखाओं के रंग को गहरा बना देता है। जो स्कन्द है वह पुरुगुप्त नहीं है, जो बन्धु-वर्मा है वह भटार्क नहीं है, जो देवकी है वह अनन्तदेवी नहीं है, जो देवसेना है वह विजया नहीं है, जो रामा है वह शर्वनाग नहीं है, जो प्रख्यातकीर्त्ति है वह प्रपञ्चबुद्धि नहीं है। इसी से इस नाटक में एक पात्र के

चरित्र को समझने के लिए दूसरे पात्र के चरित्र को समझना बहुत आवश्यक हो जाता है।

स्कन्दगुप्त के पाँच अङ्कों में प्रसाद ने कथानक का विभाजन इस कौशल से किया है कि इसमें नाटक की पाँच अवस्थायें स्पष्टता से पृथक-पृथक झलक जाती हैं। यह पाँच अवस्थायें होती हैं—(१) आरम्भ (फल की प्राप्ति के लिए उत्सुकता) (२) प्रयत्न (फल की प्राप्ति के लिए उद्योग) (३) प्राप्त्याशा अथवा प्राप्ति-संभव (सफलता की सम्भावना जिसमें विफलता की आशंका बनी रहती हैं) (४) नियताप्ति• (जिसमें सफलता का निश्चय हो जाता है) और फलागम (जिसमें सफलता की प्राप्ति होती है)। स्कन्दगुप्त' का फल है आर्य-साम्राज्य की स्थापना। प्रथम अङ्क में पुष्पमित्रों, शकों और हूणों के आक्रमण की, जो साम्राज्य की शक्ति को छिन्न-भिन्न करने वाले हैं, सूचना मिलती है और स्कन्द उनके विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करने को उद्यत होता है। फल की प्राप्ति में दो मुख्य विघ्न हैं—एक बाहर के आक्रमणकारी, दूसरे राज्य के षड्यन्त्रकारी। दूसरे अङ्क में आंतरिक षड्यन्त्रों का कुछ दिन को दमन होता है और मालव-राज्य स्कन्द को सौंपा जाता है जो आर्यराष्ट्र-निर्माण का श्रीगणेश है। तीसरे अङ्क में बन्धुवर्मा की अध्यक्षता में हूण पराजित होते हैं, पर स्कन्द और उसकी सेना कुभा नदी की धारा में वह जाते हैं जिससे सफलता और विफलता दोनों का संयोग होता है। चौथे अङ्क में विजया अनन्तदेवी का साथ छोड़कर स्कन्द की ओर आने को प्रस्तुत होती है। भटार्क अपनी माता के द्वारा फटकारा जाने पर स्कन्द का विरोध करना छोड़ता है। इससे सफलता का निश्चय होता है। पाँचवे अङ्क में खिंगिल के बन्दी होने पर हूणों का आतंक समाप्त होता है और अनन्तदेवी के क्षमा माँगने पर आन्तरिक षड्यन्त्र निश्शेष होते हैं, अतः फल की प्राप्ति होती है।

पश्चिम में वस्तु का विभाजन जिस आधार पर होता है उस पर भी स्कन्दगुप्त खरा उतरता है। अच्छे नाटकों में प्रायः किसी न किसी प्रकार का संघर्ष रहता है। यह संघर्ष स्वार्थों का होता है अथवा विचारों का। हड्सन (William Henry Hudson) ने इसी से कथानक को पाँच अंगों में विभा-

जित किया है—(१) आरम्भ (Initial Incident) जिसमें संघर्ष प्रारम्भ होता है, (२) विकास (Rising Action or Complications) जिसमें संघर्ष बढ़ता है और परिणाम अनिश्चित रहता है। (३) चरमसीमा (Climax ar Turning Point) जिसमें एक पात्र इतना प्रबल हो जाता है कि उसकी विजय निश्चित सी होती है, (४) उतार (The Falling Action) जिसमें कथा सफलता की ओर अग्रसर होती तथा अन्त (Conclusion or Catastrophe) जिसमें संघर्ष का अन्त हो जाता है।

नाटक में दो पक्ष हैं—एक स्कन्द का, दूसरा अनन्तदेवी का। स्कन्द को अनन्तदेवी और उसके सहायकों का ही सामना नहीं करना पड़ता, बर्बर शत्रुओं से भी लोहा लेना पड़ता है। प्रथम अङ्क में स्कन्द को एक ओर मालवा में हूणों का सामना करना पड़ता है, दूसरी ओर उसकी अनुपस्थिति में अनन्तदेवी अपने पति की हत्या कराके पुरुगुप्त को मगध का शासक बनाती है और इस प्रकार स्कन्द के अधिकार को निगल जाती है। दूसरे अङ्क में भटार्क, प्रपञ्चबुद्धि, अनन्तदेवी और शर्वनाग मिलकर स्कन्द की माता देवकी के प्राण लेने का प्रयत्न करते हैं और भटार्क स्कन्द के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने उज्जयनी पहुँचता है। यद्यपि दोनों कामों में विरोधियों को सफलता नहीं मिलती; पर विरोध का विकास अवश्य होता है। तीसरे अङ्क में स्कन्द को हूणों पर विजय प्राप्त होती है। आन्तरिक षड्यन्त्र को किसी सीमा तक वह पहिले ही दबा चुका था। इस प्रकार स्कन्द के पक्ष की विजय निश्चित होती है। चौथे अङ्क में विजया और भटार्क के अनन्तदेवी के प्रति विरक्त होने से घटनायें स्कन्द की सफलता की ओर मुड़ती प्रतीत होती है। पाँचवें अङ्क में हूण सेनापति और अनन्तदेवी के बन्दी होने से बाह्य और गुप्त दोनों विरोधी शक्तियों का अन्त होता है।

गुप्तवंश में क्या चन्द्रगुप्त प्रथम, क्या समुद्रगुप्त, क्या चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य, क्या कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त एक से एक प्रतापी और वीर शासक हुए जिन्होंने अपने बाहुबल से राज्य की सीमा बढ़ाई और सुशासन की स्थापना की। कुमारगुप्त के पश्चात् शासन को आन्तरिक षड्यंत्रों और बाह्य विभीषिकाओं से सामना करना पड़ा। कुमारगुप्त के शासन के अंतिम दिनों में

हूणों का आक्रमण हुआ और युवराज स्कन्द को शकों, पुष्यमित्रों और हूणों का सामना करना पड़ा। स्कन्दगुप्त के समय में तो हूणों के बड़े भयङ्कर आक्रमण हुए। स्कन्द प्रारम्भ से लेकर अन्त तक इन्हीं षड्यन्त्रों को दबाता और बर्बर हूणों को देश से बाहर निकालने के लिए समस्त शक्ति से प्रयत्न करता दृष्टि-गोचर होता है। कुमारगुप्त के सामने गुप्त-साम्राज्य आन्तरिक कलह से भी जर्जर हो रहा था। सिंहासन का उचित अधिकारी यद्यपि स्कन्द ही था, पर महाराज की छोटी रानी अपने पुत्र पुरुगुप्त को मगध के सिंहासन पर आसीन देखना चाहती थी। चक्रपालित ने स्कन्द की उदासीनता के मूल में 'गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम' बतलाया है। यद्यपि इतिहास के अनुसार स्कन्द ही कुमारगुप्त के पश्चात् १२ वर्ष (४५५—४६७ ई०) तक शासक रहा, पर उत्तराधिकार नियम में यदि अव्यवस्था रही हो तो आश्चर्य नहीं। चन्द्रगुप्त प्रथम के पश्चात् लिच्छवी वंश की राजकुमारी कुमारदेवी का पुत्र समुद्रगुप्त केवल अपनी योग्यता के लिए पिता के द्वारा शासक नियुक्त हुआ; यद्यपि वह महाराज का सबसे बड़ा पुत्र न था।

नाटक में मालव-राज्य की राजनीतिक घटनाओं का भी वर्णन है। इतिहास का तो यही कहना है कि सौराष्ट्र और गुजरात के साथ चन्द्रगुप्त द्वितीय ने मालवा पर भी विजय प्राप्त की थी; पर 'प्रसाद' जी ने बन्धुवर्मा को स्वतंत्र शासक रखा है और राष्ट्रप्रेम के आवेश में उससे स्कन्दगुप्त के लिए उस राज्य का समर्पण करवाया है। गुजरात और सौराष्ट्र में मगध की ओर से प्रान्तपति नियुक्त थे। दशपुर के दूत से पर्णदत्त पूछता है, "बलभी का क्या समाचार है?" बलभी सौराष्ट्र की पूर्वी सीमा का एक नगर था। पर्णदत्त क्योंकि वहाँ का शासक था; अतः उस स्थान की रक्षा के हेतु विशेष चिंतित था। शासन सतर्कता से होता था। मातृगुप्त की वाणी से हमें इस बात का पता चलता है कि प्रजा से जो कर लिया जाता था, उसका सदुपयोग होता था। रक्षा का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। यदि किसी का धन अपहृत हो जाता और अधिकारी उसका पता लगाने में असमर्थ रहते, तो वह धन उनकी भृत्ति से कटता था। इस नाटक में तीन राजधानियों का वर्णन है—कुसुमपुत्र (पाटलिपुत्र) अयोध्या और उज्जयिनी लिच्छवि वंश की राज-

कुमारी का पाणिग्रहण करने से पाटलिपुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम के अधिकार में आया। उसी समय से यह मगध की राजधानी रहा। बौद्ध लेखकों ने स्कन्द को 'अयोध्या का विक्रमादित्य' लिखा है। सम्भव है राज्य-विस्तार के साथ पाटलिपुत्र के अधिक मध्य में होने के कारण राजधानी स्कन्द के समय में पाटलिपुत्र से अयोध्या परिवर्तित हो गई हो। उज्जयिनी मालवा की राजधानी थी ही। इस प्रकार स्कन्दगुप्त के समय में शासन कुसुमपुर, अयोध्या और उज्जयिनी तीन-तीन स्थानों से होता था।

गुप्तकाल वैष्णव-धर्म की उन्नति और बौद्ध धर्म की अवनति का काल है। गुप्त-सम्राट् यद्यपि किसी धर्म से द्वेष न रखते थे; पर वे ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे। कुमारगुप्त वैष्णव था, इतना तो नाटक से ही आभास मिलता है। मुद्गल दरबार में आकर कहता है, "महादेवी ने प्रार्थना की है कि युवराज भट्टारक की कल्याण-कामना के लिए 'चक्रपाणि' भगवान् की पूजा की सब सामग्री प्रस्तुत है। आर्यपुत्र कब चलेंगे?" कुमारगुप्त ने 'अश्वमेध यज्ञ' किया था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त तीनों 'परम भागवत' कहलाते थे। बौद्धों का जैसा आचरण इस नाटक में दिखलाया गया है, उससे पता चलता है कि उनके दिन पूरे हो गये थे। एक प्रपञ्चबुद्धि है। वह स्वयं मदिरा पीता है दूसरों को पिलाता है; करुणा की मूर्ति गौतम का अनुयायी होकर हत्या कराने को प्रस्तुत होता है; श्मशान में बलि देने को उद्यत रहता है और राज्य के कुचक्रों में सम्मिलित होता है। प्रख्यातकीर्ति की गणना यद्यपि बहुत अच्छे धार्मिकों में होनी चाहिए, क्योंकि ब्राह्मण और बौद्धों के झगड़े में वह बहुत समझदारी की बात करता है, पर उस जैसे धार्मिक भी हूणों से मिले हुए थे। उसने स्वयं स्वीकार किया है, "सेनापति! मुझसे सुनो! समस्त उत्तरापथ का बौद्ध सङ्घ जो तुम्हारे उत्कोच के प्रलोभन में भूल गया था, वह अब न होगा।" बलिदान के ऊपर ब्राह्मणों और बौद्धों का झगड़ा जिसमें कुछ महानुभावों को आजकल के हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े की छाया दिखाई दी है, उस काल का वास्तविक चिह्न है। हाँ, धातुसेन का यह कथन आजकल के ब्राह्मणों पर भी लागू होता है—

"दक्षिणाओं की योग्यता से, स्वर्ग, पुत्र, धन, यश, विजय और मोक्ष तुम बेचने लगे।"

स्कन्दगुप्त राजनीतिक और धार्मिक संघर्ष को ही विशेषरूप से लेकर चला है। सामाजिक स्थित का उससे कम पता चलता है। इतना आभास फिर भी मिल जाता है कि समाज उस समय विश्रृङ्खल था। देश में वेश्या-वृत्ति प्रचलित थी। मदिरा का सेवन होता था। नृत्य और गायन के भी लोग प्रेमी थे। विलास की मात्रा बढ़ रही थी। भटार्क को फटकारते हुए शर्व-नाग ने कहा है, "यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य जाति उसी तरह पड़ी है जैसे कुलबधू को छोड़ कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में।" पर्णदत्त से हमें पता चलता है कि उस काल के सामान्य युवक आत्मसम्मान से हीन श्रृङ्गारी छैला मात्र रह गये थे। भिक्षावृति भी उस समय प्रचलित थी। आहत सैनिकों की सेवा के लिए देवसेना और पर्णदत्त भीख माँगते फिरते हैं। पर्दे की प्रथा प्रचलित न थी। स्त्री पात्रों को सहजभाव से पुरुषों के समागम में हम पाते हैं। मातृगुप्त के स्वगत के आधार पर यह भी पता चलता है कि चाहे कवियों को पेट भरने के लिए जनता कुछ न देती हो, पर उनका सम्मान करती थी! संस्कृत के विद्वानों और बौद्ध पण्डितों में शास्त्रार्थ होता रहता था। इस प्रकार राजनीतिक स्थिति डाँवाडोल थी, धर्म आडम्बर मात्र था और समाज पतनोन्मुख।

नाटक में पाँच अङ्क हैं और डेढ़-सौ से ऊपर पृष्ठ। वैसे प्रसाद जी ने इस बात का ध्यान रखा है कि आगे के अङ्क बराबर छोटे होते चले जायें जिससे दर्शक उकता न जायँ। अभिनय के लिए फिर भी कथानक आवश्यकता से अधिक लम्बा हो गया है। 'प्रसाद' के नाटकों के कथानक जटिल भी होते हैं और विस्तृत भी। अभिनय की दृष्टि से और भी इसमें बहुत से दोष हैं। सबसे बड़ा व्याघात है भाषा का। यह ध्यान रखना चाहिए कि नाटक में केवल कथोपकथन होता है। नाटक को एक प्रकार से हम कथोपकथन की कला कह सकते हैं। यदि पात्रों की बात दर्शक नहीं समझते तो नाटक को मंच की दृष्टि से व्यर्थ ही समझिये। नाटककार कह सकता है, 'दर्शक अयोग्य

हैं, बात समझने की क्षमता उनमें नहीं है।' यही बात यदि दर्शक कहें कि आप समझाना ही नहीं जानते तो ? मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो 'प्रसाद' की असमर्थता को उनकी इस धारणा के आधार पर दबाते फिरते हैं कि 'नाटक के लिए मञ्च होना चाहिये।' प्रसाद के वर्ज्य दृश्यों पर आपत्ति करना हम छोड़ भी सकते हैं; क्योंकि यदि मञ्च ने नहीं तो चित्रपट ने उन पर विजय प्राप्त करली है। 'प्रसाद' के सभी नाटकों से 'स्कन्दगुप्त' की भाषा दुरूह है। स्कन्द, मातृगुप्त, देवसेना, विजया, अनन्तदेवी आदि की बात छोड़िए; हँसोड़ धातुसेन, सैनिक चक्रपालित, भटार्क, जयमाला और कमला की वाणी सुनिये। ऐसा प्रतीत होता है मानो संस्कृत-गर्भित हिन्दी पात्रों के मुँह में ठूँसी जा रही है।

कथानक की दीर्घता, भाषा की दुरूहता अथवा अनुपयुक्तता और मञ्च के लिए वर्ज्य दृश्यों को—जैसे कुभा की धारा में स्कन्द और उसकी सेना का बहना—छोड़कर दृश्यों के विधान का ज्ञान भी प्रसाद जी को कम था! तीसरे अङ्क में पहिले एक दृश्य 'मगध' का है, पास ही 'मालव' का फिर, 'गान्धार की घाटी' का। पर पट-परिवर्तन प्रसाद जी ने कहीं नहीं लिखा, यद्यपि दूरी की भावना को दूर करने के लिए 'पट' डालना चाहिये। नहीं तो क्या सबके सामने आकर मञ्च से नौकर सामग्री उठाते फिरेंगे ?

स्कन्दगुप्त में और कई बातें खटकती हैं। रक्षा करने वालों के तुरन्त पहुँचने में स्कन्द का अपनी मा के निकट पहुँचना एक दैवी घटना का चमत्कार प्रतीत होता है। पृथ्वीसेन महाप्रतिहार और दण्डनायक का आत्मघात भी कोई अर्थ नहीं रखता। द्वितीय अङ्क में (दृश्यों के नम्बर तो इस नाटक में 'प्रसाद' जी ने उड़ा ही दिये) भटार्क, प्रपञ्चबुद्धि और शर्वनाग जब अपनी मन्त्रणा करके प्रस्थान कर जाते हैं, तब धातुसेन मञ्च पर आ टपकता है, जैसे वह इसी प्रतीक्षा में था कि कब ये जायँ और कब मैं अपना मुख दर्शकों को दिखाऊँ। अकेला है। बात-चीत कैसे करे ? मुद्गल को स्मरण करता है। वह चट आ जाता है। नाटक के प्रथम पृष्ठ पर वृद्ध पर्णदत्त युवक स्कन्द से 'आशीर्वाद' माँगता है। कैसे विनोद की बात है! भाषा की अशुद्धियाँ भी यहाँ-वहाँ रह गई हैं। किसी स्थल पर 'होने की लालच

है' कहीं 'वे शब्द सामने आते हैं जो उस बूढ़े अमात्य ने कहा था' तो कहीं स्कन्द देवसेना से बड़े भद्दे ढंग से कहता है, "कभी हमने भी 'तुझे' अपने काम का बनाया था।" आज तक मेरी समझ में यह नहीं आया कि नर्तकी वाले प्रथम गीत में 'प्रसाद' जी ने 'खिले फूल सब गिरा दिया है' के स्थान पर 'खिले फूल-सा गिरा दिया है' क्यों नहीं कर दिया। इससे 'हृदय धूलि में मिला दिया है' से संगति भी बैठ जाती और वचन का दोष भी मिट जाता।

प्रथम संस्करण के उपरान्त 'प्रसाद' जी ने इस नाटक में बहुत से संशोधन किए। कहीं शब्दों, कहीं वाक्यांशों और कहीं पूरे वाक्यों को घटाया-बढ़ाया है। बीसवें पृष्ठ के दो परिवर्तन देखिये।

(१) अ—हमारे अश्रु की गर्म शीतलता उसे सुरक्षित रखे।

ब—हमारे अश्रु की शीतलता उसे सुरक्षित रखे।

(२) अ—गर्म रक्त का फुहारा छोड़ने वाले हृदय को आहार मिले।

ब—अभिलाषा से मचलने वाले भूखे हृदय को आहार मिले।

प्रथम उदाहरण में 'गर्म' शब्द रहने पर अर्थ जल्दी हाथ आ जाता है। नहीं तो अध्याहार से काम लेना पड़ता। दूसरे प्रकार के परिवर्तन पुस्तक में बहुत हैं और निश्चय ही उनसे भाषा में सौंदर्य-वृद्धि हुई है। जहाँ उन्होंने कुछ घटाया है, वहाँ कथानक की शिथिलता दूर हुई है। कहीं-कहीं यह काट-छाँट खटकती भी है। चतुर्थ अंक में शर्वनाग कहता है, "सोने के लोभ से मेरे लालों को शूल पर के माँस की तरह सेकने लगे।" इसी प्रकार रामा कहती है "मैं रामा हूँ! जिसकी सन्तान को हूणों ने पीस डाला।" बिना किसी संदर्भ के यह सोचना कठिन है कि यह व्यक्तिगत बात है। यही भ्रम होता है कि देश के नवयुवकों की हत्या की चर्चा हो रही है। यदि यह अवतरण रहने दिया जाता तो बात एकदम स्पष्ट हो जाती—

मुद्गल—अन्तर्वेद के आक्रमण में अनन्तदेवी की प्रवंचना से वह पराजित हुआ, और उसके सब लड़कों को हूणों ने वध कर डाला। वह पागल हो गया था। रामा की भी वही दशा थी।

इस नाटक में भी प्रसाद जी ने हास्य की योजना की है। इस काम को समेटने के लिए दो पात्रों को नियुक्त किया गया है (१) कुमारगुप्त को, (२) मुद्गल को। कुमारगुप्त की सभा में धातुसेन हँसाने का प्रयत्न करता है, पर सफलता नहीं मिलती। हाँ, ब्रैकिट में 'हँसते हुए' लिखने से किसी को हँसी आ जाती हो तो दूसरी बात है। मुद्गल एक विदूषक है। वह भोजन, प्रेम, विवाह आदि को लेकर हँसी उत्पन्न कराने का कुछ सामान इकट्ठा करता है, पर 'प्रसाद' जी की विद्वत्ता और गम्भीरता उसे भी आ घेरती है।

मुद्गल—मेरी गठरी जो तुम लेते हो, इसमें कौन-सा न्याय है ? बोलो—

मातृगुप्त—न्याय ? तब तो तुम आप्त-वाक्य अवश्य मानते होगे ?

मुद्गल—अच्छा तो तर्क-शास्त्र लगाना पड़ेगा।

संगीत भी नाटक की एक आवश्यकता है। नाटकों में पहिले इस तत्त्व का समावेश इस प्रचुरता से होता था कि पात्र बातचीत करने के शौकीन कम प्रतीत होते थे, गाने के अधिक। नाटक मीरासियों की एक मजलिस हो जाती थी। इस नाटक में 'प्रसाद' ने संगीत का समावेश सकारण रखा है। स्कन्दगुप्त में १६ गाने हैं। उनमें कुछ प्रार्थनाएँ हैं, कुछ गाने नेपथ्य से सुनाई पड़ते हैं, कुछ नर्त्तकियों के मुख से और कुछ स्वतन्त्र। सम्राट कुमारगुप्त नर्त्तकियों का गान सुनते हैं। दरबार में मनोरंजन थोड़ा होना भी चाहिये। भटार्क अपने शिविर में नर्त्तकी से गान सुनता है। युद्धक्षेत्र गान के लिए उपयुक्त स्थान तो नहीं है, पर इससे भयंकरता थोड़ी कोमल बनती है और सैनिकों की थकावट दूर होती है। 'प्रसाद' ने नर्त्तकियों के समावेश से नृत्य का आयोजन भी कौशल से कर दिया है। नेपथ्य के गाने वातावरण को घनीभूति (intense) करने के लिए हैं। प्रार्थनाओं के रूप में स्वर-लहरी थोड़ी तैर जाय तो कुछ अस्वाभाविक नहीं। स्वतन्त्र गायकोंमें मातृगुप्त, देवसेना और विजया हैं। मातृगुप्त कवि है। एक रचना भावावेश में उसके मुख से निकलती है, दूसरी कविता रणक्षेत्र में वीरों को उत्साहित करने के लिए। दोनों की अपनी-अपनी उपयुक्तता है। सबसे अधिक देवसेना गाती है। 'प्रसाद' जी ने स्वभाव से उसे संगीत की प्रेमिका बना कर उस पर आपत्ति

करने की आशङ्का को उठा दिया है। वैसे जहाँ उसने गाया है वहाँ समय और स्थान देख कर। इस पर यदि उससे कोई कुछ कहे तो कलाकार की निर्द्वन्द्वता को सामने रखते हुए उसके पास यह उत्तर है—

उसका (तात्पर्य है कलाकार से) स्वर अन्य वृक्षों से नहीं मिलता। वह अकेला अपने सौरभ की तान से दक्षिण-पवन में कम्प उत्पन्न करता है, कलियों को चटका कर, ताली बजाकर, झूम-झूम कर नाचता है। अपना नृत्य, अपना संगीत वह स्वयं देखता है—सुनता है। उसके अन्तर में जीवन-शक्ति वीणा बजाती है।

विजया के गाने पर थोड़ी आपत्ति की जा सकती है। यद्यपि दोनों गीत भावावेश में निकलते हैं; पर स्कन्द को अपने हृदय की अभिलाषा कविता में जताना उसके लिए बहुत आवश्यक नहीं है। यह फिर भी कहना पड़ता है कि गान की परिधि में इनमें से थोड़ी रचनाएँ आती हैं। अधिकतर रचनाएँ सुन्दर कविताएँ ही हैं। 'संसृति के वे सुन्दरतम क्षण' वाली शृंगारी रचना—जिसके लिए किसी-किसी नासमझ का कहना कि 'रहस्यवाद का यह कैसा उत्कृष्ट उदाहरण है!' तो साधारण व्यक्ति के लिए एकदम गूढ़ हो गई है।

मादकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी।
मेरे निश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी॥
मैं व्याकुल परिरम्भ मुकुल में बन्दी अलि सा काँप रहा।
छलक उठा प्याला, लहरी में मेरे सुख को माप रहा॥
सजग सुप्त सौंदर्य हुआ, हो चपल चली भौंहें मिलने।
लीन हो गई लहर, लगे मेरे ही नख छाती छिलने॥
श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा।
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा॥
तुम अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के विभ्रम से, बहकाने से।
सुखी हुए फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने से॥

यही दशा कुछ कम मात्रा में अजातशत्रु की 'निर्जन गोधूली प्रांतर....'

रचना की है और कुछ अधिक मात्रा में चन्द्रगुप्त की 'ओ मेरी जीवन की स्मृति' कविता की।

प्रायः प्रश्न उठता है कि यह नाटक सुखांत है अथवा दुःखांत। लगता ऐसा है कि नायक की दृष्टि के नाटक विषादांत है और उद्देश्य की दृष्टि से सुखांत। दुःखांत के लिए यह आवश्यक नहीं है कि किसी की मृत्यु ही दिखाई जाय। स्कन्दगुप्त का हताश होना मृत्यु से भी अधिक भयंकर है। पर यहाँ बात दूसरी है। नाटक का लक्ष्य 'प्रेम' नहीं है। अतः यह निराशा—वह भी अनिर्दिष्ट कि इस बेचारे के अन्तःकरण का आलिंगन करके न विजया रो सकी और न देवसेना—एक व्यक्तिगत बात मात्र रह जाती है। नाटक का मुख्य उद्देश्य है 'गुप्त साम्राज्य का पुनरुद्धार'। वह पुरुगुप्त के सम्राट् होने पर—जो स्कन्द की इच्छा से उसका स्थानापन्न है—पूरा हो जाता है। नाटक को हम सुखान्त ही कहेंगे। किसी नवीन नाम की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। किसी-किसी ने 'चन्द्रगुप्त' को भी एक नवीन नाम के शिकंजे में कसा है। स्कन्दगुप्त के सम्बन्ध में तो भ्रम हो भी सकता है; पर चन्द्रगुप्त का अन्त तो ऐसे आह्लाद के वातावरण में होता है कि वहाँ उसके सुखान्त होने में संदेह को भी अवकाश नहीं है। एक बात पूछी जा सकती है। 'प्रसाद' जी ने नाटक का अन्त पुरुगुप्त के तिलक के समय ही क्यों नहीं कर दिया? देवसेना और स्कन्द के मिलन का उद्यान वाला अन्तिम दृश्य क्यों बढ़ाया? उस दृश्य की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि देवसेना के चरित्र का पूर्ण विकास अभी नहीं हुआ। उसकी मानसिक स्थिति को दिखाना अभी शेष है। अतः सब कुछ निर्णय होने पर स्कन्द के साथ एक बार उसे फिर खड़ा किया गया। इस दृश्य में तो स्कन्द के मुख से ही हमें नाटक के उद्देश्य का पता चलता है—'हमने अन्तर की प्रेरणा से शस्त्र द्वारा जो निष्ठुरता की थी, वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए।' जहाँ तक देवसेना का सम्बन्ध है वहाँ तक उसे अपने निर्णय पर मानसिक परितोष है—इतना परितोष कि अपनी फ़िलासफ़ी का उपदेश देने के लिए वह खड़ी हो जाती है। अजातशत्रु के अन्त में भी हर्ष और सुख उमड़ पड़े हैं। बिम्बसार का लड़खड़ाना सुखाधिक्य के कारण है। वह स्वयं कहता है, "इतना सुख एक साथ मैं सहन न

कर सकूँगा।" इससे अधिक और किस सुख की कल्पना वह कर सकता था ? इन नाटकों के पूर्ण सुखांत होने में शायद यह कसर रह गई है कि 'चंद्रगुप्त' की भाँति फूल तो इनमें किसी ने बरसाये ही नहीं।

नाटक का सबसे सफल भाग पाँचवें अंक का वह अंश है जिसमें एक ओर स्कंद और देवसेना, दूसरी ओर स्कंद और विजया मिलते हैं। केवल अंत की पंक्तियों को छोड़कर देवसेना के चरित्र का निर्वाह बड़ी मार्मिकता से हुआ है। कला की दृष्टि से कुमारगुप्त की हत्या के पूर्व 'प्रसाद' जी ने राजप्रासाद के चारों ओर अर्द्धरात्रि के अंधतमस वातावरण में सनसनाहट भरी है जो आगामी वीभत्स घटना को गहनता (Intensity) प्रदान करती है। हूणों का आतंक भी एक स्थल पर खरा चित्रित हुआ है। कुमारगुप्त की हत्या के दृश्य के उपरांत ही उन्होंने मातृगुप्त और मुद्गल का विनोद दिखलाया है। शोकपूर्ण घटना के बाद थोड़ा मनोरंजन इसलिए उचित प्रतीत होता है कि मृत्यु के आघात से दर्शकों का हृदय कहीं अधिक चोट न खा जाय; अतः गुद्गुदाकर उनकी शोकमुद्रा को मिटाना चाहिए ही। नाटक की अंतिम चार-पाँच पंक्तियाँ प्रभाव को कुछ क्षीण करती हैं। स्कंद की याचना के उत्तर में देवसेना का यह तर्क—जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए—बहुत दुर्बल है। नाटक को यदि, "देवसेना ! तुम जाओ। हतभाग्य स्कंदगुप्त, अकेला स्कंदगुप्त, ओह !!" पर ही समाप्त कर दिया जाता, तो कितना अच्छा होता !

———

चन्द्रगुप्त मौर्य्य

चन्द्रगुप्त मौर्य्य' ऐतिहासिक नाटक है। तक्षशिला के महाराज आम्भीक ने ३२६ ई० पू० में तक्षशिला में आक्रमणकारी सिकन्दर का स्वागत किया और द्वेष के कारण पोरस का विरोधी बनकर शत्रु का साथ दिया। पोरस परास्त हुआ, पर उसकी वाणी में राजोचित गरिमा के दर्शन से मुग्ध हो सिकन्दर ने उसका राज्य उसे लौटा दिया। प्लूटार्क (Plutarch) का कहना है कि चन्द्रगुप्त की सिकन्दर से भेंट हुई थी और जस्टिनस (Justinus) ने तो बालक चन्द्रगुप्त के उद्दण्ड व्यवहार पर अप्रसन्न होकर सिकन्दर द्वारा उसके वध की आज्ञा तथा भागकर उसके बच आने की चर्चा भी की है। नन्द को अप्रसन्न करके मगध से भाग आने की बात भी यही लेखक कहता है। ई० बी० हैवेल (E. B. Havell) ने तक्षशिला के प्रसिद्ध विद्यालय में चाणक्य के रहने, उस विद्यालय के विद्रोह का केन्द्र बनने और चन्द्रगुप्त के चाणक्य का शिष्य होने का उल्लेख किया है। मालवों से युद्ध करते समय सिकन्दर एक बार घायल भी हुआ। भारत से लौटने पर उसने फिलिप (Philip) को यहाँ का क्षत्रप (Satrap) नियुक्त किया। ३२३ ई० पू० में सिकन्दर की मृत्यु हो गई। इसके उपरांत ३२२ ई० पू० में चन्द्रगुप्त ने पञ्जाब पर आधिपत्य जमाया और चाणक्य तथा पर्वतेश्वर को लेकर वह मगध पहुँचा। नन्द की हत्या के उपरांत ३२१ ई० पू० में वह वहाँ का शासक हुआ और दक्षिण विजय करने चल पड़ा। ३०५ ई० पू० में सिल्यूकस निकैटर (Seleukos Nikator) ने भारत पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में सिल्यूकस पराजित हुआ और सिन्धु के पश्चिम का ग्रीक-राज्य तथा काबुल, कन्धार, हिरात और गैड्रोशिया के प्रान्तों को चन्द्रगुप्त को देकर तथा महाराज को अपना जामाता बनाकर एण्टीगोनस (Antigonos) का सामना करने के लिए वह लौट गया। चन्द्रगुप्त ने प्रसन्न होकर ५००

हाथी सिल्यूकस को दिए तथा मेगस्थनीज़ (Megasthenes) को अपने दरबार में यूनानी राजदूत बनकर रहने की आज्ञा दी।

ये ऐतिहासिक घटनायें हैं जिनके आधार पर 'चन्द्रगुप्त' का प्रणयन हुआ है। अपनी ओर से नाटककार ने बहुत कम घटाया-बढ़ाया है, इतिहास की रेखाओं के भीतर ही रंग भरा है। नाटक के पुरुष पात्रों में सिकन्दर, सिल्यूकस, फ़िलिप्स, आम्भीक, पर्वतेश्वर, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, नन्द, राक्षस, वररुचि, शकटार सभी ऐतिहासिक पात्र हैं। यवनदूत साइबर्टियस (Sybertios) भी काल्पनिक नहीं है। प्रथम अङ्क के छठे दृश्य में मालविका ने उद्भांड में मानचित्र बनाने की अलका से बात कही है। सिकन्दर के समय में सिंधु नदी का घाट अटक से १६ मील उत्तर उद्भांडपुर (Ohind) में ही था। ऐसी छोटी बातों के ग्रहण करने से 'प्रसाद' जी की सतर्कता की और भी प्रशंसा करनी पड़ती है। पाटलिपुत्र की स्थिति के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। यह आधुनिक पटना के स्थान पर ही मगध की राजधानी था और गंगा और सोन के संगम पर बसा हुआ था। अब तो वहाँ खुदाई होने से बहुत सी नवीन बातों का पता चला है। कल्याणी के मुख से 'प्रसाद' जी ने कहला दिया है, "मगध के राजमंदिर उसी तरह खड़े हैं, गंगा शोण से उसी स्नेह से मिल रही है।"

नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही उन्होंने थोड़े से परिवर्तन किये हैं जिनका उन्हें पूर्ण अधिकार है। इतिहास इस बात का साक्षी नहीं है कि फिलिप की मृत्यु चन्द्रगुप्त के हाथों द्वन्द्वयुद्ध में हुई; पर दोनों के जीवन में कार्नेलिया के आने पर प्रेम में प्रतिद्वन्दी की मृत्यु कराकर कथा को रोचकता प्रदान की गई है। स्त्री-पात्रों के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। वे हो सकती हैं, पर नामों की यथार्थता का दावा नहीं किया जा सकता। सिल्यूकस की कन्या का नाम राय महोदय ने हैलन दिया है, 'प्रसाद' ने कार्नेलिया। दोनों नाम काल्पनिक प्रतीत होते हैं। कुछ इतिहास-कार तो वैवाहिक सम्बन्ध पर शंका भी प्रकट करते हैं।

'प्रसाद' जी ने अपने 'मौर्यवंश' लेख में इस बात पर बहुत जोर दिया है कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय था। उन्होंने चन्द्रगुप्त को पिप्पलीकानन (बस्ती ज़िले

में नैपाल की सीमा पर) के क्षत्रियों का वंशज ही माना है। ग्रीक इतिहास-कारों ने जो यह भ्रम फैलाया है कि वह मुरा नाम की शूद्रा नाइन के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, उसका निराकरण उन्होंने किया है। उनका कहना है कि मुरा से मौर और मौरेय बन सकता है, न कि मौर्य्य। इसके लिए उन्होंने इधर-उधर के बहुत से प्रमाण दिए हैं, पर मुख्य आधार बौद्ध-ग्रंथ 'महावंश' है जिसका उपयोग 'प्रसाद' जी और बहुत से इतिहासकारों ने किया है। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया' में चन्द्रगुप्त को शूद्रत्व से मुक्त किया गया है। विंसेण्ट स्मिथ (V. A. Smith) भी उसके शूद्र होने पर शङ्का प्रकट करते हैं और आयंगर (Aiyanger) ने 'ए हिस्ट्री आव इण्डिया' में लिखा है—

But aecording to the pali Book, the Mahavansa, the Mauryas, were an off-shoot of the Sakya tribe; and there were the Moriyas of the pipphalivana.

मेरे कहने का तात्पर्य्य यह न समझा जाय कि 'प्रसाद' जी ने जिस सामग्री का उपयोग 'चन्द्रगुप्त' नाटक में किया है, वह क्योंकि सरलता से इतिहास-ग्रंथों में मिल जाती है; अतः उनके अध्यवसाय का कोई मूल्य नहीं। नहीं, उन्होंने अपनी भूमिका अपने ढंग पर, विशेष रूप से भारतीय ग्रंथों के आधार पर अत्यन्त परिश्रम से लिखी है और उसका मूल्य है। डी० एल राय ने ऐतिहासिक खोज में अपना सर नहीं खपाया। मुरा के नाम पर ही मौर्य्य राज्य के स्थापित करने की बात उन्होंने कही है और इसे चन्द्रगुप्त की मातृ-भक्ति का प्रमाण माना है। मुद्राराक्षसकार ने भी चन्द्रगुप्त के लिए 'वृषल' शब्द का प्रयोग किया है जो भाव से हीनता का द्योतक ही प्रतीत होता है; पर 'प्रसाद' चन्द्रगुप्त के क्षत्रियत्व के प्रचार के लिए इतने उत्सुक थे कि नाटक में उन्होंने अवकाश निकालकर उसकी व्याख्या की है—

पर्वतेश्वर हाँ—तो, इस मगध-विद्रोह का केन्द्र कौन होगा? नन्द के विरुद्ध कौन खड़ा होता है?

चाणक्य—मौर्य्य-सेनानी का पुत्र वीर चन्द्रगुप्त जो मेरे साथ यहाँ आया है।

पर्वतेश्वर—'पिप्पलीकानन' के मौर्य्य भी तो वैसे ही वृषल हैं, उनको राज्य-सिंहासन दीजियेगा ?

चाणक्य—आर्य्य-क्रियाओं का लोप हो जाने से इन लोगों को वृषलत्व मिला; वस्तुतः ये क्षत्रिय हैं। बौद्धों के प्रभाव में आने से उनके श्रौत संस्कार छूट गये हैं अवश्य; परन्तु इनके क्षत्रिय होने में कोई सन्देह नहीं।

चाणक्य इस नाठक का प्रधान पात्र है। शरीर में मेरुदन्ड के समान नाटक के कथानक में चाणक्य के चरित्र की स्थिति है। उसे निकाल देने पर जैसे पुस्तक का सारा ढाँचा ही अस्त-व्यस्त हो जायगा। चाणक्य एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्र है जिसकी तुलना पश्चिम के विद्वानों ने मिकिया-वेली (Machiavelli) से की है। प्रसिद्ध है कि चाणक्य विलक्षण बुद्धि का एक प्रतिभावान कूटनीतिज्ञ ब्राह्मण था। 'प्रसाद' के इस नाटक में चाणक्य के काम शरीर में नसों के समान फैले हुए हैं।

ब्राह्मणत्व का अहं 'प्रसाद' के चाणक्य में बहुत प्रबल है। वैदिक काल के समर्थ ऋषियों का रक्त जैसे चाणक्य की धमनियों में प्रवाहित हो रहा है। प्रखरबुद्धि और अनन्त शक्ति रखते हुए भी उस बुद्धि और शक्ति का अपने स्वार्थ के लिए दुरुपयोग न करना और लोक-कल्याण में रत रहना चाणक्य की दृष्टि से ब्राह्मण का आदर्श था, जिसका पालन उसने जीवन के अंत तक किया। पर ब्राह्मण की महत्ता को कोई स्वीकार न करे अथवा उसका अप-मान करने का कोई साहस करे, यह वह नहीं सहन कर सकता था; यह बात हम पर्वतेश्वर और नन्द के साथ चाणक्य के व्यवहार में देख चुके हैं। राय और प्रसाद दोनों नाटककारों ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि चाणक्य की आन्तरिक इच्छा राजनीति में पड़ने की न थी। परिस्थितियों ने उसे विवश किया कि वह क्रूर से क्रूर कर्म करने को बाध्य हो। एक बार वह सोचता भी है, "मेरी भूमि मेरी वृत्ति वही मिल जाय, मैं शस्त्र व्यवसायी न रहूँगा, मैं कृषक बनूँगा। मुझे राष्ट्र की भलाई बुराई से क्या ?" परन्तु जब उसका ब्रह्मस्व अपहृत होता है, अच्छी बात सुझाने पर अपमान होता है,

उसे कारागार में डाल दिया जाता है और विदेशियों के आक्रमण तथा स्वदेशियों की फूट और अत्याचार से देश के छिन्न-भिन्न होने की आशंका उसे खड़ी दिखाई देती है, तब वह अपना कर्म-पथ बदल देता है। जो कुछ उसने किया उसे वह करना न चाहता था, इस बात को चन्द्रगुप्त से उसने स्वीकार किया है—

"मैं ब्राह्मण हूँ। मेरा साम्राज्य करुणा का, प्रेम का था। बौद्धिक विनोद कर्म था। सन्तोष धन था। उस अपनी, ब्राह्मण की जन्मभूमि को छोड़ कर कहाँ आ गया! मेरा जीवन राजनीतिक कुचक्रों से कुत्सित और कलंकित हो उठा है। किसी छाया-चित्र, किसी काल्पनिक महत्त्व के पीछे, भ्रमपूर्ण अनुसन्धान करता दौड़ रहा हूँ। शांति खो गई, स्वरूप विस्मृत हो गया!"

कुटिल राजनीतिज्ञ होने के कारण ही चाणक्य का दूसरा नाम कौटिल्य है। सफल नीतिज्ञ की पहली पहचान यह है कि उसे मनुष्यों और परिस्थितियों की खरी परख होनी चाहिये। चाणक्य को मनुष्य के स्वभाव, उसकी शक्तियों और दुर्बलताओं का जैसा ज्ञान था वैसा शायद ही किसी को हो। चन्द्रगुप्त को देखते ही उसने पहचान लिया था कि वह राजा होने योग्य है। पर्वतेश्वर से उसने कहा था, "पौरव! जिसके लिए कहा गया है कि क्षत्रिय के शस्त्र धारण करने पर आर्त्तवाणी नहीं सुनाई पड़नी चाहिए, मौर्य्य चन्द्रगुप्त वैसा ही क्षत्रिय प्रमाणित होगा।" पर्वतेश्वर से बातें करते ही उसने खीझकर कहा था, "शौर्य-गर्व से तुम पराभूत होगे।" नन्द के आचरण से उसने निष्कर्ष निकाल लिया था कि उसका विनाश निकट है। सिंहरण को समझता था कि वह विश्वस्त मित्र सिद्ध होगा। सिकन्दर-पोरस युद्धकाल में जब कल्याणी मगध की सेना को लेकर लौट जाना चाहती है, तब वह उसे केवल यह कहकर उलझाने का प्रयत्न करता है, "परन्तु राजकुमारी, उसका (चन्द्रगुप्त का) असीम प्रेमपूर्ण हृदय भग्न हो जायगा।" और मालविका के प्रेम की दुर्बलता को पहचान कर तो उसने चन्द्रगुप्त के लिए उसकी हत्या करा दी।

मनुष्यों के अध्ययन के उपरान्त स्थितियों का अध्ययन उसका बहुत स्पष्ट है। वह जानता था कि विदेशियों की बाढ़ भारत को निगलने

के लिए आ रही है, वह जानता था कि देश के शक्तिशाली व्यक्तियों में राष्ट्राभिमान नहीं है, वह जानता था कि गणतन्त्रों और राज्यों में एकता का भाव नहीं है—सारा देश द्वेष से जर्जर हो रहा है। इसी से वह कभी आम्भीक को समझाता है, कभी पर्वतेश्वर के पास दौड़ा जाता है, कभी नंद को चेतावनी देता है—जैसे सारे राष्ट्र के कल्याण का भार बिना किसी के सौंपे ही उसने अपने ऊपर ले लिया है। उसकी बात न कोई सुनता है और न समझता है। पर वह हताश नहीं होता। उसकी सी उद्यम-शीलता के उदाहरण कम मिलेंगे।

चाणक्य के सामने दो विकट कार्य थे (१) विदेशियों को निकालना, (२) चन्द्रगुप्त को सम्राट बनाना। सिकन्दर के आक्रमण के समय मालव, क्षुद्रक आदि गणतन्त्रों को छोड़ कर उस समय तीन वैभवशाली राज्यों के तीन प्रभावशाली राजा थे—नन्द, पोरस और आम्भीक। ये तीनों ही मिल-कर खड़े नहीं हो सकते थे। पर्वतेश्वर ने अकेले सिकन्दर का सामना किया। आम्भीक उसका इसलिए विरोधी था कि पर्वतेश्वर ने उससे अपने लोक-विश्रुत कुल की कुमारी का विवाह नहीं किया। नन्द इसलिए अप्रसन्न था कि उसने उसे शूद्र समझकर उसकी पुत्री कल्याणी से परिणय करना अस्वी-कार कर दिया। इस प्रकार दोनों ओर से विवाह विरोध का कारण हुआ। चाणक्य की यह विशेषता है कि जितनी उलझनमय स्थिति होती है उतने ही अधिक कौशल से वह काम करता है। एक उदाहरण लीजिये। पोरस की पराजय के उपरान्त जब आम्भीक के साथ ही पोरस भी एक प्रकार से सिकन्दर का अविरोधी बन जाता है और यूनानियों द्वारा मगध के कुचले जाने की आशंका है, उस समय चाणक्य इस भयंकर परिस्थित को केवल अपने बुद्धिबल से सँभालता है। गणतन्त्रों की युद्ध-परिषद् चन्द्रगुप्त को मागध समझकर अपना सेनापति नहीं बनाना चाहती। चाणक्य दो मिनट के भाषण में उनकी मति बदलता है। कल्याणी और राक्षस मगध की सेना को वापिस ले जाना चाहते हैं। वहाँ उसका बुद्धि-कौशल देखने योग्य है। कल्याणी लौटने का प्रस्ताव उठाती है तो उसके सामने चन्द्रगुप्त के प्रेम को रखता है। कहता है तुम्हारे बिना उसके हृदय के टुकड़े हो जायँगे। राक्षस

उसे लौटा ले जाना चाहता है। उस समय पहिले तो मगध के विनाश की सम्भावना से उसे भयभीत करता है। तुरन्त ही लौटकर कहता है, "नन्द को अपनी प्रेमिका सुवासिनी से तुम्हारे अनुचित सम्बन्ध का विश्वास हो गया है। अभी तुम्हारा लौटना ठीक न होगा, समझे।" राक्षस चक्कर में पड़ जाता है। चाणक्य के चर राक्षस के चरों को धोखा देते हैं। इतने से ही सन्तुष्ट न होकर अपनी चाल को दृढ़ करने के लिए पहिले कुछ सैनिकों को भेजकर कहलवाता है, "अमात्य राक्षस, मगध सम्राट की आज्ञा से शस्त्र त्याग कीजिए, आप बन्दी हैं।" दूसरी ओर से अन्य सैनिक आकर कहते हैं, "हम राक्षस के शरीर-रक्षक हैं?" और पहिले सैनिकों को बन्दी बना लेते हैं। राक्षस के हृदय में इस प्रकार अपने प्रति विश्वास का संपादन करता है और उसके हृदय को कृतज्ञता से भर देता है। राक्षस जा नहीं पाता। काम हो जाने पर भी वह राक्षस को मूर्ख बनाता है। वह जानता है कि उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है—सुवासिनी—और मनुष्य की दुर्बलता से वह सदैव लाभ उठाता है। कहता है "मैं सुवासिनी से तुम्हारी भेंट भी करा देता, परन्तु वह मुझ पर विश्वास नहीं करती; तुम्हारा प्रत्यय देखकर आ सकती है।" राक्षस अपनी मुद्रा दे देता है। इसी मुद्रा से नन्द का सर्वनाश होता है। सिकन्दर के चले जाने से ही यूनानियों का आतङ्क समाप्त हो गया हो, ऐसा नहीं। सिकन्दर के उपरान्त फिलिपस का प्रश्न था। उसे द्वन्द्व-युद्ध में चन्द्रगुप्त से समाप्त करा दिया। यह ध्यान देने की है कि उस बीच पर्वतेश्वर को चाणक्य अपने साथ मगध ले आता है। फिलिपस के उपरान्त सिल्यूकस आ धमका। उस समय तक चन्द्रगुप्त की शक्ति को चाणक्य ने इतना दृढ़ कर दिया था कि सिल्यूकस के छक्के छूट जाते हैं।

चन्द्रगुप्त को मगध के सिंहासन पर बिठाने में भी चाणक्य ने विस्मय-कारिणी प्रतिभा का परिचय दिया है। पर्वतेश्वर को राज्य का लोभ देना और उससे काम लेना, मालविका के द्वारा नन्द के हाथ में जाली पत्र पहुँचाना और राक्षस सुवासिनी को बन्दी बनवाना, अपने आदमियों को भीड़ में मिलाकर नगर में सनसनी फैलाना, फिर राजसिंहासन के पास जाकर अपने भाषण से नागरिकों को उत्तेजित करना और उस उत्तेजना के क्षण

में नन्द का वध करवाना, राक्षस के बीच में बोलने पर बड़े धैर्य से उसकी बात को सुनना और फिर इस प्रकार तर्क उपस्थित करना जिससे जनता स्वयं यह अनुभव करने लगे कि मगध के लिए एक शक्तिशाली शासक की आवश्यकता है, स्वयं चुप रहना, पर शकटार का चन्द्रगुप्त का नाम लेना था कि एक क्षण का विलम्ब न करते हुए उसे सिंहासन पर बिठा देना और राक्षस से ही उसका अभिषेक कराना, क्या चाणक्य के अतिरिक्त और किसी राजनीतिज्ञ से सम्भव था ! इस कुटिल राजनीतिज्ञ की चालों को कोई भाँप तक नहीं सकता और अपने कार्यों की सफलता के लिए यह उचित-अनुचित तथा पाप-पुण्य का कोई ध्यान नहीं रखता । चाणक्य, जैसा उसने स्वयं कहा है, 'केवल सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे ही हों !' इसी से यह पाषाण-हृदय व्यक्ति मालविका के प्राण ले लेता है और बिलकुल नहीं हिचकता । कल्याणी आत्महत्या करती है तो एकदम सहज-भाव से कहता है, "चन्द्रगुप्त ! आज तुम निष्कंटक हुए ।"

अपनी क्रूरता में भी चाणक्य महान ही प्रतीत होता है । मस्तिष्क के सामने हृदय चाहे दब गया हो, पर मिट नहीं गया । बाल्यकाल की सहचरी सुवासिनी को वह भूल नहीं सका और उसका नाम हृदय से उमड़कर चाणक्य की जिह्वा तक भी कभी-कभी आ जाता है । पर क्या हम इसे उसकी दुर्बलता कहें ?

एकाध बार सुवासिनी से उसका साक्षात्कार भी होता है । जीवनभर का संचित अनुराग उस समय उसकी आँखों में झलक उठता है । पर वह तुरन्त सँभल जाता है । कहता है, "क्या ? मेरी दुर्बलता ? नहीं ।" वहीं वह दुःख को पी जाता है । देवताओं का पता नहीं, पर मानवों में इसी को महानता कहते हैं ।

यह दृढ़, उद्यमी, निर्भीक, हठी, कठोर, कोमल, सतत सजग, दूरदर्शी, कूट राजनीतिज्ञ, ब्राह्मणत्व का अभिमानी, आर्य-राष्ट्र की एकता का स्वप्न सत्य में परिणत करने वाला, विचित्र प्रतिभासम्पन्न प्राणी, सैनिक न होकर सेनापतियों को रण-संचालन की नीति बताने वाला, दरिद्र होकर सम्राटों पर

शासन करने वाला व्यक्ति, विधाता की एक आश्चर्य सृष्टि था। सबसे अधिक चकित वह हमें उस समय करता है जब अपना मंत्री-पद राक्षस के लिए सौंपता है। उसने सुवासिनी से कहा था, "मुझे चन्द्रगुप्त को मेघमुक्त चन्द्र देखकर इस रंगमंच से हट जाना है।" चाणक्य ने यही किया। भारत को ही अपने शिष्य के अधीन नहीं किया; सिल्यूकस की कन्या कार्नेलिया को भारत की सम्राज्ञी बनाकर बिदेशी आतंक को भी शान्त कर गया। क्या उसका त्याग सुवासिनी के लिए था अथवा निष्काम कर्म का उदाहरण था? उसके कर्म-पादप को यद्यपि अपमान की प्रतीकार-भावना और 'दिव्य यश' के अर्जन का खाद्य भी मिला है; पर राष्ट्र-प्रेम की रसधारा के सतत सिंचन से क्रूरता के काँटों में रक्षित निस्पृहता का पुष्प और देश-गौरव का फल जो उसने भेंट किया वह वर्णनातीत है।

चन्द्रगुप्त नाटक का नायक है और नायक के सभी गुण उसमें है—उच्चकुल में जन्म लेकर निरभिमानिता, निर्भीकता के साथ विनम्रता, वीरता के साथ कोमलता और संकट में धैर्य-प्रदर्शन। इस बात को देखकर बहुत बड़ा संतोष होता है कि प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त को चाणक्य के हाथ की कठ-पुतली मात्र नहीं रखा। मुद्राराक्षस नाटक की यह बहुत बड़ी अस्वाभाविकता है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त एक दूसरे की पूर्ति हैं। चाणक्य मस्तिष्क है, चन्द्रगुप्त भुजा। साम्राज्य की स्थापना के लिए दोनों की आवश्यकता है। यदि चन्द्रगुप्त बिना चाणक्य के राजा नहीं हो सकता था, तो चाणक्य को भी नन्दकुल का नाश करके मगध के सिंहासन पर बिठाने के लिए एक तेजस्वी वीर की आवश्यकता थी। उस पद के लिए सबसे अधिक उपयुक्त व्यक्तित्व चन्द्रगुप्त का ही था। वैसे चन्द्रगुप्त स्वभाव से विनम्र है, पर उसके अन्तर में सम्राट् जन्म से बैठा था, ऐसा प्रतीत होता है। समय आने पर वह चाणक्य से जो उसका गुरु है जवाब तलब करता है। प्रशंसनीय बात यह है कि जिस पिता की अप्रसन्नता को सामने रखकर चन्द्रगुप्त ने चाणक्य से कैफ़ियत माँगी थी, वही पिता जब चाणक्य की हत्या का प्रयत्न करता है तब चन्द्रगुप्त पिता के सम्बन्ध को भूलकर उसे न्यायाधीन समझता है और अपना निर्णय देने को उद्यत होता है। चाणक्य ने उस समय ठीक ही कहा था, "मैं विश्वस्त हूँ कि तुम अपना कर्त्तव्य कर लोगे।"

उसकी निर्भीकता का परिचय सिकन्दर के सामने, वीरता का परिचय रण-क्षेत्र में, साहस और धैर्य का परिचय सिंहरण और चाणक्य के उसे छोड़ जाने पर और कृतज्ञता का परिचय सिल्यूकस को जीवनदान देने से मिलता है। चाणक्य इस नाटक का मस्तिष्क है, इस बात के कहने का वह तात्पर्य नहीं है कि बुद्धि और पात्रों के बाँट में नहीं आई। चन्द्रगुप्त युवावस्था से दूरदर्शी था। सिकन्दर मगध नष्ट करने के लिए जब अपना जाल फैलाता है और कहता है कि हमारी सेना तुम्हारी सहायता करेगी, तब चन्द्रगुप्त उस बात की गहराई तक पहुँच जाता है और तुरन्त बहुत खरा उत्तर देता है, "मुझे लोभ से पराभूत गांधारराज समझने की भूल न होनी चाहिए। मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ, परन्तु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं।" यवनों से युद्ध करते समय उन्हीं की नीति से लड़ना भी उसके रण-कौशल का परिचायक है।

राजा भी मनुष्य होता है—हृदय रखता है। बाह्य जीवन में चन्द्रगुप्त को इतना विकट संघर्ष करना पड़ता है कि उसका अन्तर निरन्तर भूखा रहने से विद्रोह करने लगा है। मालविका को एक स्थान पर उसने हृदय खोलकर दिखलाया है, "युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो, मालविका!" प्रेम के सम्बन्ध में चन्द्रगुप्त वैसे बहुतों से अधिक सौभाग्यशाली है। तीन-तीन प्राणी उसे प्रेम करने को प्रस्तुत हैं। उसके हृदय में किसी के प्रति विरक्ति अथवा उदासीनता का भाव नहीं है। पोरस सिकन्दर युद्ध में कल्याणी की प्रणय-चर्चा पर चन्द्रगुप्त का 'राजकुमारी समय नहीं' कहना अनुपयुक्त वातावरण का संकेत मात्र है, तिरस्कार अथवा खीझ का द्योतक नहीं। मालविका को वह अत्यन्त अनुग्रह की दृष्टि से देखता है। कल्याणी, मालविका और कार्नेलिया में से चन्द्रगुप्त को कौन सबसे अधिक प्रेम करती है, यह कहना कठिन है। कल्याणी घोषित करती है, 'कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को—वह था चन्द्रगुप्त; कार्नेलिया सिल्यूकस से कहती है, "मुझे भारत की सीमा से दूर ले चलिए, नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगी," और मालविका चुप-चुप सोचती है, "जाओ प्रियतम, सुखी-जीवन बिताने के लिए और मैं रहती हूँ चिरदुःखी जीवन का अन्त करने के लिए।" पर तीनों के आचरण

से यही सिद्ध होता है कि मालविका का आत्म-समर्पण ही पूर्ण था। कार्नेलिया छुरी निकालकर आत्मघात करने के लिए उद्यत होती है पराजय के अनुमान पर और कल्याणी आत्मघात कर ही डालती है चन्द्रगुप्त के अपने पिता नन्द के विरोधी होने के कारण; पर मालविका सचमुच प्राण दे देती है चन्द्रगुप्त के प्यार के लिए। मालविका को चन्द्रगुप्त से प्यारा कुछ नहीं था। कल्याणी और कार्नेलिया को चन्द्रगुप्त ही केवल प्यारा न था। सम्राज्ञी बनती है कार्नेलिया, यह चाणक्य की इच्छा थी अथवा विधाता की। चन्द्रगुप्त भी आसक्त है कार्नेलिया पर। मालविका के अन्तर को तो वह कभी पहचान ही न सका। कल्याणी के आकर्षण को वह जानता था, पर वह उसे पतिरूप से प्राप्त करना चाहती थी, इसका उसे ध्यान न था। कल्याणी जब उससे अपनी अनन्यता प्रकट करती है, तब वह आश्चर्य-चकित होकर कहता है, "क्या यह सच है कल्याणी ?" दूसरी ओर कार्नेलिया के लिए उसके हृदय में अपनी ओर से व्यग्रता है। वह उससे मिलता है तो जानना चाहता है कि वह विस्मृत तो नहीं हुआ अथवा विस्मृत तो नहीं होगा ? जैसे अलका को प्राप्त करके सिंहरण का, सुवासिनी को प्राप्त करके राक्षस का, उसी प्रकार कार्नेलिया को प्राप्त करके चन्द्रगुप्त का स्वप्न सत्य हो गया।

राक्षस को लेखक ने 'कला-कुशल विद्वान्' कहा है। नन्द की रंगशाला में अपने अभिनय और गान से उसने अपनी कलामर्मज्ञता का परिचय दिया है और कार्नेलिया का वह शिक्षक था इससे विद्वान् भी रहा होगा। इस नाटक में उसकी शक्ति और कार्यों को गति प्रदान करने वाली प्रेरणा रही है—सुवासिनी। सुवासिनी के प्रति उत्कट लालसा राक्षस के मन की प्रमुख वृति है। नन्द की सभा में सुवासिनी के प्रति उसके आकर्षण का आभास मिलता है। आगे चलकर जब सुवासिनी भी कहती है कि 'मैं तुम्हारी हूँ' तब इस सुख को वह सँभाल नहीं सकता, आँख मीचकर कहता है, "सुवासिनी ! कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम ! मैं हस्तगत कर लूँ ? नहीं, राजकोप होगा। परन्तु जीवन वृथा है। मेरी विद्या, मेरा परिष्कृत विचार सब व्यर्थ है। सुवासिनी एक लालसा है, एक प्यास है। वह अमृत है, उसे पाने के लिए सौ बार मरूँगा।" राक्षस बौद्ध-मत का अनुयायी था, पर उस

मत का समर्थन वह सुवासिनी को प्रसन्न करने के लिए भी करता था। उसकी दृष्टि में सुवासिनी के सामने साम्राज्य तुच्छ है, देश तुच्छ है। नन्द के कोप का झूँठा संवाद सुनते ही वह कह उठता है, "जाता मगध, कटती प्रजा, लुटते नगर। मैं सुवासिनी के लिए मगध को बचाना चाहता था।" यहाँ राक्षस ने अपने हृदय का अच्छा परिचय नहीं दिया। यह पता लगते ही कि सुवासिनी चाणक्य की ओर झुकी है, चाणक्य के प्रति उसकी विद्वेषाग्नि भभक उठती है। वह कहता है, "तो चाणक्य से फिर टक्कर होगी।" षड्यन्त्रकारियों का नेता बनकर वह चन्द्रगुप्त के प्राण लेने का प्रयत्न करता है। यह अपराध राजनीति की दृष्टि से चाहे क्षम्य हो, पर देश के विनाश के लिए वह विदेशियों का सहायक बनता है इस पाप का मार्जन तो किसी प्रकार नहीं हो सकता। कार्नेलिया ने ठीक ही कहा था, "मेरे यहाँ ऐसे लोगों को देशद्रोही कहते हैं।"

इस नाटक में चाणक्य और राक्षस की कोई समानता नहीं है; न राजनीतिक दाव-पेचों में और न चरित्रबल में। डींग तो वह बहुत मारता है। चाणक्य से कुढ़कर अपने आप कहता मात्र है, "चन्द्रगुप्त सम्राट् हो सकता है तो दूसरे भी इसके अधिकारी हैं" पर करके कुछ नहीं दिखाता। मुद्रा वाली बात को भी वह नन्द के सामने स्पष्ट नहीं कर सका। सच बात यह है कि 'प्रसाद' जी ने ही राक्षस के चरित्र को कुछ हल्का चित्रित किया है। मुद्राराक्षस में भी तो राक्षस है। वहाँ वह परास्त होता है; पर दैव की प्रतिकूलता ही वहाँ प्रमुख है। वहाँ उसकी पराजय में भी एक गौरव है। 'प्रसाद' का राक्षस एक शृंगारी वृत्ति का ब्राह्मणद्रोही, देशद्रोही बौद्ध है। वह सचमुच राक्षस है।

सिंहरण छोटा चन्द्रगुप्त है—वैसा ही वीर, वैसा ही निर्भीक, वैसा ही आर्य राष्ट्र का प्रेमी और वैसा ही आत्म-सम्मान पर चोट न सहने वाला। चाणक्य से प्रारम्भ में ही वह कहता है, "मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी अस्त्र-शास्त्र की।" युद्धक्षेत्र में चन्द्रगुप्त के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर उसने सदैव अपनी वीरता और सच्ची मित्रता का परिचय दिया है।

आम्भीक को जिस निर्भीकता से वह व्यंग्य भरे तीखे उत्तर देता है, वे सुनने योग्य हैं। उसकी इसी निर्भीकता पर तो अलका अपना मन न्यौछावर कर गई थी। प्रेम में सिंहरण मृगछौना-सा भोला और सौम्य बन जाता है। अपने को किसी को सौंपने के उदाहरण में आवश्यकता पड़े, तो सिंहरण का का नाम लिया जा सकता है।

नन्द एक विलासी अत्याचारी राजा है, जिसे न उचित अनुचित का ध्यान है और न न्याय अन्याय का। जब किसी राज्य का विनाश होने वाला होता है तब शासक में विलासिता, बर्बरता, अन्याय और मूर्खता के गुण इसी प्रकार एकत्र हो जाते हैं। आवेश उसके चरित्र की एक दुर्बलता है। उसका वध इसी दुर्बलता के कारण हुआ है। जब विद्रोही प्रजा उसे घेरे खड़ी है तब कुछ देर वह नीति से काम लेता है; परन्तु तुरन्त भड़क उठता है। आवेश में आकर ललकारने लगता है, "तब रे मूर्खो! देखो नन्द की निष्ठुरता।" परिणाम यह होता है कि कुत्ते की मौत मारा जाता है।

आर्यावर्त्त की एकता के लिए उत्कट प्रयत्न करने वालों में अलका का बहुत बड़ा हाथ है। चाणक्य के उपरांत उसी का नाम लिया जा सकता है। भाई के आचरण से असंतुष्ट होने के कारण वह राज्य के सुखों को ठोकर मारकर अकेली निस्सहाय निकल खड़ी होती है। आप चाहें तो इसे भावावेश कह सकते हैं; पर देश-प्रेम की छाया में यह भावावेश स्वार्थ का पोषण करने वाली बड़ी से बड़ी बुद्धिमत्ता से अधिक मूल्यवान है। चाणक्य के कार्य में विदेशियों के लिए असहनशीलता के साथ ही नन्द के प्रति व्यक्तिगत प्रतिशोध-भावना भी काम कर रही है; पर अलका का त्याग एक-दम सात्विक और स्वार्थहीन है। राष्ट्र-प्रेम ही उसके कार्यों का संचालक है। तक्षशिला के नागरिकों में अपने उद्बोधन-गीत से प्राण फूँकती हुई अलका कितनी महान प्रतीत होती है—

हिमाद्रि तुङ्ग अङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं-प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती

"अमर्त्य-वीर-पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य-पंथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।

इस ओजमयी वाणी में हृदय का एक कोमल तार भी चुपचाप बज रहा है—सिंहरण के लिए। सिंहरण ने उसे मुग्ध किया है अपने निर्भीक और देश-प्रेमी स्वभाव से। आम्भीक के कुपित होने पर जब अलका सिंहरण से गांधार छोड़ने का अनुरोध करती है और वह उत्तर में कहता है, "मेरा देश मालव ही नहीं गांधार भी है। यही क्या, समग्र आर्यावर्त्त है" तब अलका के हृदय का तार भी इस मृदु आघात से झनझना उठता है—"मैं भी आर्यावर्त्त की बालिका हूँ।" विचारों की यह एकता बहुत स्वाभाविक रूप से उन्हें स्नेह के चिरबन्धन में बाँध देती है। प्रेम में नित्य नवीनता के लिए जिस शरारत और उसके मार्ग की बाधाओं को पार करने के लिए जिस तुरत-बुद्धि की अपेक्षा होती है, वे दोनों गुण अलका में हैं। वन में सिल्यूकस और जीवन में पर्वतेश्वर दोनों को वह चकमा देती है और सिंहरण के भावों के साथ जो वह एक स्थान पर खेली है वह निर्मम प्रेम-प्रदर्शन नाटककार के शब्दों में ही दर्शनीय है—

सिंहरण—अलका, तब क्या करना होगा?

अलका—यदि मैं पर्वतेश्वर से ब्याह करना स्वीकार करूँ तो सम्भव है कि तुमको छुड़ा दूँ।

सिंहरण—मैं……अलका! मुझसे पूछती हो!

अलका—दूसरा उपाय क्या है?

सिंहरण—मेरा सिर घूम रहा है। अलका? तुम पर्वतेश्वर की प्रणयिनी बनोगी! अच्छा होता कि इसके पहले ही मैं न रह जाता!

अलका—क्यों मालव इसमें तुम्हारी हानि है?

सिंहरण—कठिन परीक्षा न लो अलका। मैं बड़ा दुर्बल हूँ।

अलका—मालव, देश की स्वतंत्रता तुम्हारी आशा में है।

सिंहरण—और तुम पंचनद की अधीश्वरी बनने की आशा में। तब मुझे रणभूमि में प्राण देने की आज्ञा दो।

अलका—(हँसती हुई)—चिढ़ गये।

सिंहरण—यह भी कोई हँसी है।

अलका—बंदी। जाओ सो रहो, मैं आज्ञा देती हूँ।

देश-प्रेम में सराबोर यह सुन्दर वीर बालिका सिंहरण की आवश्यकता से अधिक उपयुक्त जीवन-सहचरी है।

'सुन्दरियों की रानी', कला-मर्मज्ञ सुवासिनी शकटार की कन्या है और राक्षस की अनुरक्ता। वह बौद्धमत की अनुयायिनी है। राक्षस के प्रति अपनी अनुरक्ति की दृढ़ता और अस्थिरता दोनों का परिचय उसने अपने जीवन में दिया है। नंद के यह कहने पर कि राक्षस उसका प्रणयी होकर पृथ्वी पर नहीं जी सकता, सुवासिनी का यह दृढ़ उत्तर कि तब वह उसे खोजने स्वर्ग जायगी, हमारे हृदय में उसके प्रति जैसे श्रद्धा उत्पन्न करता है, उसी प्रकार चाणक्य और राक्षस की तुलना में चाणक्य की ओर उसका मुड़ना हमें एक प्रकार की विरक्ति-भावना से भर जाता है। यह सत्य है कि चाणक्य से उसका बाल्यकाल का परिचय था; पर जब एक व्यक्ति उसके जीवन में पूर्णरूप से आ गया था तब उसे हृदय से निकाल फेंकना कुछ अस्वाभाविक लगता है। किसी व्यक्ति को स्वीकार करने से पहिले सोच लेना चाहिये। पर स्वीकार करते समय तो हम उसकी दुर्बलताओं और अभावों के साथ उसे ग्रहण करते हैं। चाणक्य ने उसे सँभाल लिया, नहीं तो वह राक्षस को छोड़ बैठती। अच्छा यह होता कि लेखक चाणक्य और सुवासिनी के हृदय में एक टीस उठा देता और बस! चाणक्य के प्रति संयत अंतर्द्वन्द्व राक्षस के प्रति अन्तर्द्वन्द्व से अधिक मार्मिक होता। अन्त में यूनानियों के हाथ से राक्षस की आत्मा का उद्धार कर सुवासिनी फिर एक बार हमारी प्रशंसा का पात्र बनती है।

सिंहरण की सहचरी और राक्षस की प्रेमपात्री के अतिरिक्त नाटक में जो स्त्री पात्र हैं उनका जीवन और मन चन्द्रगुप्त से गुम्फित है। चन्द्रगुप्त और उन्हें लेकर 'यदि एक अनार और सौ बीमार' की कहावत शब्दशः चरितार्थ नहीं होती तो एक अनार और तीन बीमार की तो होती है। कल्याणी

चन्द्रगुप्त को चाहती है, मालविका उसे प्रेम करती है और कार्नेलिया उस पर आसक्त है। किसी कहानी के लिए यह एक जटिल समस्या हो सकती थी और इसे उठाकर सुलझाने में लेखक की प्रतिभा परखी जा सकती है। पर 'प्रसाद' जी ने इसे सरलता से सुलझा दिया है—सुलझा क्या गुत्थी को काट दिया है। कल्याणी आत्मघात कर लेती है और मालविका की चाणक्य हत्या करा देता है; अतः कार्नेलिया का मार्ग स्वच्छ हो जाता है। चाणक्य के समान 'प्रसाद' जी ने इन दो हत्याओं के उपरान्त संतोष के साथ कार्नेलिया से कहा होगा, "कार्नेलिया ! आज तुम निष्कण्टक हुई।" द्विजेन्द्र बाबू ने भी अपने चन्द्रगुप्त नाटक में सम्राट् की दो प्रणयिनी रक्खी हैं—सिल्यूकस की कन्या हैलन और वनबालिका छाया पर उन्होंने किसी की भी मृत्यु न कराकर बड़े मार्मिक कौशल से नाटक का अंत किया है।

कल्याणी के हृदय में केवल तीन भावनाएँ काम करती हैं—चन्द्रगुप्त के प्रति आकर्षण, पर्वतेश्वर के प्रति प्रतिशोध-भावना और पिता के प्रति अगाध-प्रेम। पराजय के समय सहायता द्वारा पर्वतेश्वर को नीचा दिखाने के लिए वह सिकन्दर-पोरस युद्ध में सम्मिलित होने जाती है; पर कृतकार्य नहीं होती। वहाँ जाने में उसका एक उद्देश्य चन्द्रगुप्त से मिलना भी था। चन्द्रगुप्त के तक्षशिला से लौटते समय सब से प्रथम कल्याणी के हृदय का आकर्षण प्रकट होता है। धृष्ट पर्वतेश्वर का वध करते हुए पिता के विरोधी के प्रेम को कुचलना और प्रेम की प्यास में तड़प कर मर जाना कल्याणी के हृदय का मर्म-स्पर्शी अंतर्द्वन्द्व है। ऐसे अंतर्द्वन्द्व का परिचय और भी प्रभावशाली और सूक्ष्म रूप में प्रसाद जी ने 'आकाशदीप' कहानी की 'चम्पा' के चरित्र में भर दिया है।

मालविका सरलता और कोमलता की स्वर्गीय प्रतिमा है। चन्द्रगुप्त को प्रेम करती है; पर उस भाव का आभास तक उसे नहीं देती। वह कभी कुछ पूछ लेता है, उसके लिए किसी आदर-सूचक शब्द का प्रयोग कर देता है और गान सुनाने का उससे अनुनय करने लगता है, तो मालविका गद्गद हो जाती है और इसी को अपना बहुत बड़ा सौभाग्य समझती है। एक बार मालविका ने कहा था, "स्नेह से हृदय चिकना हो जाता है, परन्तु बिछलने

का भय भी रहता है।" बिछलन का भय ही नहीं, मरण का मूल्य भी कभी-कभी उसके लिए चुकाना पड़ता है विशेष रूप से ऐसी स्थिति में जैसी स्थिति में मालविका थी और ऐसी भोली बालिका को जैसी भोली मालविका थी और ऐसी संयत प्रेमिका को जैसी संयत प्रेमिका मालविका थी। उसकी हत्या बहुत देर तक पाठकों के हृदय को बहुत विक्षुब्ध और व्याकुल करती है।

सिल्यूकस की कन्या कार्नेलिया का शरीर यूनान का है, हृदय भारत का। वह भारतीय संगीत, भारतीय काव्य, भारतीय दर्शन और भारतीय संस्कृति को इस ममता से अपनाती है, भारत-भूमि के प्रति अपना स्नेह इस आवेग के साथ उड़ेलती है कि विधाता ने उसे यूनान में जन्म देकर भूल की है, यही कहना पड़ता है। चन्द्रगुप्त की प्रेमिकाओं में वही सफल प्रेमिका है। उसका शरीर सुंदर है, हृदय सात्विक है और चरित्र उदार है। भारत-भूमि को वह रक्त-रञ्जित नहीं देखना चाहती, इसमें उसके हृदय की कोमलता और चन्द्रगुप्त की हितकामना दोनों निहित हैं। सिल्यूकस की महत्वाकांक्षा को वह इसी से दबाती रहती है। उसे वह कभी उत्साहित नहीं करती। आत्म-सम्मान की भावना भी उसमें प्रबल है। कार्नेलिया के हृदय में भी एक बार इस भावना की प्रेम से टक्कर होती है; "चिंता नहीं, ग्रीक-बालिका भी प्राण देना जानती है। आत्म-सम्मान—ग्रीस का आत्म-सम्मान जिए!" (छुरी निकालती है)—पर उसी क्षण मन रोता है, "तो अन्तिम समय एक बार नाम लेने में कोई अपराध है?" चन्द्रगुप्त को प्राप्त करके कार्नी का प्रथम गान मानो सार्थक हो गया।

अरुण यह मधुमय देश हमारा।

जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा॥

'प्रसाद' ने जब 'चन्द्रगुप्त मौर्य्य' का प्रणयन किया उसके पहिले दो प्रसिद्ध नाटक चाणक्य के चरित्र को लेकर हिन्दी में थे—एक विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' नाटक जिसका अनुवाद भारतेन्दु ने किया और दूसरा द्विजेन्द्रलाल राय का चन्द्रगुप्त मौलिक नाटक जिसका अनुवाद भी हिन्दी में

हुआ। मुद्राराक्षस केवल राजनीतिक नाटक है। 'प्रसाद' के नाटक की वह समता नहीं कर सकता। पर हिन्दी के कुछ आलोचकों ने 'प्रसाद' की प्रतिभा से अत्यधिक आतङ्कित होने के कारण राय के नाटक को भी तुच्छ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जो न्यायसंगत नहीं है। कोई माने अथवा न माने, पर सच बात यह है कि 'प्रसाद' जी ने विशाखदत्त और डी० एल० राय दोनों से पूरा-पूरा लाभ उठाया है, मुद्राराक्षस से तो कम, पर राय महोदय के नाटक से अत्यधिक। शकटार के बन्दी होने और उसके सात पुत्रों के प्राण-विसर्जन तथा पर्वतक को चन्द्रगुप्त की सहायता के लिए लोभ देकर मगध में लाने की कथा का संकेत चाहे भारतेन्दु की 'पूर्व-कथा' से न मिल कर किसी अन्य स्थल से मिला हो, पर मुद्रा और जाली पत्र द्वारा राक्षस का अनिष्ट-चिंतन मुद्राराक्षस की प्रमुख घटना है जिसका प्रयोग 'प्रसाद' के नाटक में भी है। सँपेरा बनने का भाव भी मुद्राराक्षस नाटक से लिया गया है। द्विजेन्द्र बाबू के नाटक को पढ़ने के उपरांत यदि 'प्रसाद' का नाटक पढ़ें तो बहुत-सी छोटी-मोटी बातें ताज़ी होती जाती हैं। इतर जाति की अवहेलना राय का चाणक्य भी नहीं सहन कर सकता और जिस प्रकार नंद के सभासदों को वह कुत्तों के दल के नाम से पुकारता है; उसी प्रकार 'प्रसाद' का चाणक्य भी प्रतिहार को कुत्ता कहता है। सिंहरण राय के चन्द्रकेतु का रूपान्तर है और चन्द्रगुप्त से रूठ जाने पर भी दोनों नाटकों में यह पात्र ग्रीकों में आक्रमण के समय बिना बुलाये अकस्मात् चन्द्रगुप्त की सहायता को पहुँच जाता है। 'प्रसाद' का फिलिपस राय के एण्टीगोनस का प्रतिरूप है—एक उद्धत अशिष्ट सैनिक, सिल्यूकस की कन्या को स्पर्श करके अप्रसन्न करनेवाला, प्रणय में चन्द्रगुप्त का प्रतिद्वन्द्वी; पर राय ने ऐण्टी के चरित्र का जो मार्मिक विकास दिखाया है, उसकी छाया भी 'प्रसाद' के फिलिपस में नहीं। प्रसाद की कार्नेलिया ने अपने पिता की मखौल उड़ाना भी राय की हैलन से सीखा है। सिल्यूकस कुछ विद्वान् न था। उसके विचार से पढ़ने से मौलिकता नष्ट होती है। सैनिकों को अध्ययन से अधिक रुचि भी नहीं होती। इसी से राय के नाटक में बात का माहात्म्य बढ़ाने के लिए अपनी बात के साथ वह कभी 'ऐरिष्टफेनिस' और कभी 'सफ़ोक्लिस' का नाम जोड़ देता है जिससे वह

अपनी विदुषी कन्या द्वारा पकड़ा जाता है और परिहास का कारण बनता है। कार्नेलिया उसकी असफल नकल है। वह हास्य उत्पन्न करने में असमर्थ सिद्ध होती है। राय के कात्यायन का स्थान राक्षस लेता है। वह भी सिल्यूकस को भड़काता है और हैलन जिस प्रकार उसकी प्रवृत्ति को पहचान कर उसे राजद्रोही, देशद्रोही और धर्मद्रोही कहती है, उसी प्रकार 'प्रसाद' की कार्नी भी राक्षस को 'देशद्रोही' कह लेती है। अपने क्रूर कर्म पर चाणक्य के पश्चात्ताप की वाणी दोनों नाटकों में बहुत कुछ एक-सी है और भारत-भूमि के सुखद सौंदर्य का वर्णन भी एक ही हृदय ने लिखा है। जिन्होंने राय के बँगला नाटक को नहीं पढ़ा है वे 'प्रसाद' के नाट्यकला-कौशल पर एक स्थान पर बहुत मुग्ध होंगे। प्रथम अङ्क के बिलकुल अंत में 'चंद्रगुप्त आश्चर्य से कार्नेलिया को देखने लगता है।' वहाँ एक शब्द भी न कहलाकर नाटककार ने आकर्षण को जन्म दिया। पर इस कौशल (art) का प्रयोग भी राय के चंद्रगुप्त नाटक में हुआ है। निदाघ से समुज्ज्वल संध्यालोक में सिन्धुनद-तट पर हैलन को सर्व प्रथम हम सिल्यूकस के पार्श्व में मौन भाव से उपस्थित पाते हैं, जहाँ सूर्य की रश्मियाँ उसके मुख पर फिसल कर स्वयं उज्ज्वल हो रही हैं। थोड़ी देर में वहीं उसने सिकन्दर के समक्ष युवक चंद्रगुप्त के कठोर वार से ऐण्टीगोनस की तलवार गिरती देखी। यद्यपि नाटककार ने उससे कुछ कहलाया नहीं है और न उसके किसी भाव का सङ्केत किया है; परंतु हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि वह चंद्रगुप्त की वीरता, निर्भीकता एवं सरल सत्यता पर चकित हुई होगी, क्योंकि आगे चल कर एकांत में वह सिंधुनद तीर के गरिमामय सूर्यास्त का स्मरण कर विकल हो जाती है। इतना लिखने का तात्पर्य यह नहीं कि 'चंद्रगुप्त मौर्य्य' लिखते समय 'प्रसाद' जी राय महोदय के सामने पट्टी लेकर बैठ गये थे; पर छोटी-छोटी बातों के लिए किसी व्यक्ति के नाम पर 'प्रतिभा' 'प्रतिभा' की रट लगाना हास्यास्पद है।

चन्द्रगुप्त नाटक का कथानक अभिनय की दृष्टि से बहुत लम्बा है। आधे से भी अधिक पृष्ठों में सिकन्दर का बखेड़ा है। नाटक में चार अङ्क हैं और तीसरे अङ्क के मध्य में वह विदा होता है। चन्द्रगुप्त में जितना कथानक है वह दो नाटकों के लिए पर्याप्त है। द्विजेन्द्रलाल राय ने इस

सम्बन्ध में संयम से काम लिया है। फिर भी कथानक में कहीं शिथिलता नहीं है। नन्द का बध इस नाटक की तीव्रतम (intense) घटना है, क्योंकि चन्द्रगुप्त का राज्य-स्थापन ही इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है जिसकी भूमिका यद्यपि कुछ पहिले से बँधती है; पर समारम्भ राज्यारोहण से ही होता है। सिकन्दर के झमेले में उस घटना तक पहुँचने में आवश्यकता से अधिक देर लगती है। इस दृष्टि से इस नाटक में सिकन्दर का आक्रमण और चन्द्रगुप्त का पंजाब में रुकना, चुनी हुई दो-चार नाटकीय घटनाओं के दृश्य उपस्थित न कर जीवन-गाथा (Autobiography) के अध्याय से खोलते हैं, जो नाटक की सीमित भूमि के लिए अनावश्यक हैं। कहीं-कहीं काल और स्थान सम्बन्धी दोष भी बड़े विकृत रूप में आया है। चतुर्थ अंक के पाँचवे दृश्य में चाणक्य चन्द्रगुप्त से अप्रसन्न होकर चला जाता है और आगे के दृश्य में ही वह सिन्धु-तट पर कात्यायन के साथ बातचीत करता दिखाया गया है। इतनी जल्दी पाटलिपुत्र से सिन्धु तट पर चाणक्य उछलकर कैसे पहुँच गया ? विपत्तिग्रस्त प्राणी के त्राण के लिए सहायक को तुरन्त ही अस्वाभाविक रूप से पहुँचाना इस नाटक में भी बना हुआ। सिंहरण सिल्यूकस की छीना-झपटी से अलका को, चन्द्रगुप्त फिलिपस की धृष्टता से कार्नेलिया को और राक्षस नन्द के अत्याचार से सुवासिनी को—तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रेमिका को बचाने के लिए कहीं न कहीं से कूद ही पड़ता है। भाषा में सरलता अवश्य आ गई है। केवल भावावेश में ही भाषा संस्कृत-गर्भित निकली है, पर व्याकरण की भूलें रह गई हैं जैसे 'कहीं ठोकर मार दिया' और कहीं 'इसके स्वतन्त्रता की आवश्यकता।' कल्याणी और मालविका को तो उन्होंने इसलिए मार डाला है कि वे उन्हें जीवित रखना नहीं जानते थे।

'चंद्रगुप्त' यूनान और भारत की बुद्धि और शस्त्र-परीक्षा का उज्ज्वल संस्मारक है। जैसा कार्नेलिया ने कहा है—यह अरस्तू और चाणक्य की चोट है। सिकंदर और चंद्रगुप्त इनके अस्त्र हैं। विजयी होते हैं चंद्रगुप्त और चाणक्य अर्थात् भारत। इस नाटक का सबसे प्रमुख स्वर है—राष्ट्रीयता, जो

हमारे भूतकाल का गौरव, वर्तमान का स्वप्न* और भविष्य का गर्व है। चंद्रगुप्त नाटक 'प्रसाद' के अन्य नाटकों की अपेक्षा नाटक शब्द के अधिक निकट है। यह कोरा साहित्यिक नहीं है, अभिनेय भी है। ऐतिहासिकता की रक्षा तो इसमें अत्यंत विदग्ध कौशल से हुई है। राजनीति भी कोरी राजनीति, शुष्क राजनीति नहीं है। प्रेम की धारा अनन्त लहरों से इस बालुका-राशि को संतुष्ट कर रही है। 'प्रसाद' जी अपनी भुजाओं में यदि अधिक सामग्री समेटने का प्रयत्न न करते, तो 'चंद्रगुप्त' की गणना अत्यंत सफल नाटकों में होती।

● ● ● ●

---

*यह लेख स्वतंत्रता-प्राप्ति से बहुत पहिले लिखा गया था।

परिशिष्ट

लेखक	जन्म-काल
अयोध्यासिंह उपाध्याय	१८६५—१९४७
प्रेमचंद	१८८०—१९३६
मैथिलीशरण गुप्त	१८८६
जयशंकर 'प्रसाद'	१८८९—१९३७
गुरुभक्तसिंह	१८९३
इलाचंद्र जोशी	१९०२
भगवतीचरण वर्मा	१९०३
रामधारीसिंह 'दिनकर'	१९०८
सच्चिदानंद 'अज्ञेय'	१९११

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१	१४	आभाव	आभास
६७	८	विय	विषय
७०	२४	बाल्व	बाल्य
७४	२६	निमत्ति	निमित्त
८१	१०	मुक्ता	मुक्त
१२५	६	चर्मचारियों	कर्मचारियों
१५१	१५	को कुटी	की कुटी
१५८	१७	स्वाभाव	स्वभाव
१६०	२०	क्लेश को	क्लेश की
१६४	१४	असने	अपने
१७०	१६	मत	मन
१७४	२६	निम्ठुरता	निष्ठुरता
१७५	२२	अतुचर	अनुचर

उजड़े घर

हमारे अधिकांश उपन्यास गार्हस्थ्य-जीवन में प्रवेश करने से पहले ही समाप्त हो जाते हैं—चिर मिलन अथवा चिर विछोह में—पर सच पूछिए, तो जीवन की वास्तविक समस्याएँ विवाह के उपरांत ही प्रारंभ होती हैं।

हिन्दी उपन्यासों में अभी तक सम्मिलित परिवार के विघटन को ही प्रदर्शित किया जाता रहा है; लेकिन आधुनिक भारतीय जीवन का यदि गहराई से अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि बाहर से सब कुछ ठीक दिखाई देने पर भी हमारे दाम्पत्य-जीवन में भीतर कहीं गहरा विकार उत्पन्न हो गया है, अंतरतम में कहीं गहरी दरारें पड़ गयी हैं। आज तो हमारा घर ही जैसे टूट-फूट रहा है।

इस उपन्यास का नायक अपने जीवन के एक महत्वपूर्ण काल में कई परिवारों के सम्पर्क में आता है और ज्यों-ज्यों उनके आंतरिक जीवन से परिचित होता है, त्यों-त्यों उसे इस तथ्य की अवगति होती है कि अपने चारों ओर फैले संसार के सम्बन्ध में हम सब कितने अंधकार में रहते हैं! इन परिवारों के अध्ययन के माध्यम से लेखक ने एक प्रकार से आज के मध्य वर्ग के नैतिक जीवन का यथार्थ और मर्मभेदी चित्र अंकित किया है।

'प्रेमिकाएँ' के समान 'उजड़े घर' भी एक संकेत-प्रधान उपन्यास है। इसका अपना एक मूल स्वर है जो समस्त रचना में परिव्याप्त है।

उपन्यास में प्यार के जीवन के न जाने कितने रहस्य छिपे हुए हैं!

मूल्य ५·००

किताब महल इलाहाबाद